ज्ञानबिन्दुपरिचय

ग्रन्थकार

प्रस्तुत ग्रंथ 'ज्ञानबिन्दु' के प्रणेता वे ही वाचकपुङ्गव श्रीमद् यशोविजयजी हैं जिनकी एक कृति 'जैनतर्कभाषा' इतःपूर्व इसी 'सिंघी जैन ग्रंथमाला' में, अष्टम मणि के रूप में प्रकाशित हो चुकी है। उस जैनतर्कभाषा के प्रारम्भ[1] में उपाध्यायजी का सप्रमाण परिचय दिया गया है। यों तो उनके जीवन के संबन्ध में, खास कर उनकी नाना प्रकार की कृतियों के संबन्ध में, बहुत कुछ विचार करने तथा लिखने का अवकाश है, फिर भी इस जगह सिर्फ उतने ही से सन्तोष मान लिया जाता है, जितना कि तर्कभाषा के प्रारम्भ में कहा गया है।

यद्यपि ग्रंथकार के बारे में हमें अभी इस जगह अधिक कुछ नहीं कहना है, तथापि प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु नामक उनकी कृति का सविशेष परिचय कराना आवश्यक है और इष्ट भी। इसके द्वारा ग्रंथकार के सर्वांगीण पाण्डित्य तथा ग्रंथनिर्माण-कौशल का भी थोड़ा बहुत परिचय पाठकों को अवश्य ही हो जाएगा।

ग्रन्थ का बाह्य स्वरूप

ग्रंथ के बाह्य स्वरूप का विचार करते समय मुख्यतया तीन बातों पर कुछ विचार करना अवसरप्राप्त है। १ नाम, २ विषय और ३ रचनाशैली।

१. नाम

ग्रंथकार ने स्वयं ही ग्रंथ का 'ज्ञानबिन्दु' नाम, ग्रंथ रचने की प्रतिज्ञा करते समय प्रारम्भ[2] में तथा उसकी समाप्ति करते समय अन्त[3] में उल्लिखित किया है। इस सामासिक नाम में 'ज्ञान' और 'बिंदु' ये दो पद हैं। ज्ञान पद का सामान्य अर्थ प्रसिद्ध ही है और बिंदु का अर्थ है बूँद। जो ग्रंथ ज्ञान का बिंदु मात्र है अर्थात् जिसमें ज्ञान की चर्चा बूँद जितनी अति अल्प है वह ज्ञानबिंदु—

---

१. देखो, जैनतर्कभाषा गत 'परिचय' पृ० १–४।

२. 'ज्ञानबिन्दुः श्रुताम्भोधेः सम्यगुद्धियते मया'–पृ० १।

३. 'स्वादादस्य ज्ञानबिन्दोः'–पृ० ४६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा अर्थ ज्ञानबिंदु शब्द का विवक्षित है। जब ग्रंथकार अपने इस गंभीर, सूक्ष्म और परिपूर्ण चर्चावाले ग्रंथ को भी बिंदु कहकर छोटा सूचित करते हैं, तब यह प्रश्न सहज ही में होता है कि क्या ग्रंथकार, पूर्वाचार्यों की तथा अन्य विद्वानों की ज्ञानविषयक अति विस्तृत चर्चा की अपेक्षा, अपनी प्रस्तुत चर्चा को छोटी कहकर वस्तुस्थिति प्रकट करते हैं या आत्मलाघव प्रकट करते हैं; अथवा अपनी इसी विषय की किसी अन्य बड़ी कृति का भी सूचन करते हैं? इस त्रि-अंशी प्रश्न का जवाब भी सभी अंशों में हाँ-रूप ही है। उन्होंने जब यह कहा कि मैं श्रुतसमुद्र[1] से 'ज्ञानबिंदु' का सम्यग् उद्धार करता हूँ, तब उन्होंने अपने श्रीमुख से यह तो कह ही दिया कि मेरा यह ग्रंथ चाहे जैसा क्यों न हो फिर भी वह श्रुतसमुद्र का तो एक बिंदुमात्र है। निःसन्देह यहाँ श्रुत शब्द से ग्रंथकार का अभिप्राय पूर्वाचार्यों की कृतियों से है। यह भी स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ने अपने ग्रंथ में, पूर्वश्रुत में साक्षात् नहीं चर्ची गई ऐसी कितनी ही बातें निहित क्यों न की हों, फिर भी वे अपने आपको पूर्वाचार्यों के समक्ष लघु ही सूचित करते हैं। इस तरह प्रस्तुत ग्रंथ प्राचीन श्रुतसमुद्र का एक अंश मात्र होने से उसकी अपेक्षा तो अति अल्प है ही, पर साथ ही ज्ञानबिंदु नाम रखने में ग्रंथकार का और भी एक अभिप्राय है। वह अभिप्राय यह है कि वे इस ग्रंथ की रचना के पहले एक ज्ञान-विषयक अत्यन्त विस्तृत चर्चा करनेवाला बहुत बड़ा ग्रन्थ बना चुके थे जिसका यह ज्ञानबिंदु एक अंश है। यद्यपि वह बड़ा ग्रंथ, आज हमें उपलब्ध नहीं है, तथापि ग्रन्थकार ने खुद ही प्रस्तुत ग्रन्थ में उसका उल्लेख किया है; और यह उल्लेख भी मामूली नाम से नहीं किन्तु, 'ज्ञानार्णव'[2] जैसे विशिष्ट नाम से। उन्होंने अमुक चर्चा करते समय, विशेष विस्तार के साथ जानने के लिए स्वरचित 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ की ओर संकेत किया है। 'ज्ञानबिंदु' में की गई कोई भी चर्चा स्वयं ही विशिष्ट और पूर्ण है। फिर भी उसमें अधिक गहराई चाहनेवालों के वास्ते जब उपाध्यायजी 'ज्ञानार्णव' जैसी अपनी बड़ी कृति का सूचन करते हैं, तब इसमें कोई सन्देह ही नहीं है कि वे अपनी प्रस्तुत कृति को अपनी दूसरी उसी विषय की बहुत बड़ी कृति से भी छोटी सूचित करते हैं।

---

१ देखो पृ० ३७५ टि० २।

२ 'अधिकं मत्कृतज्ञानार्णवात् अवसेयम्'—पृ० १६। तथा ग्रंथकार ने शास्त्रवार्तासमुच्चय की टीका स्याद्वादकल्पलता में भी स्वकृत ज्ञानार्णव का उल्लेख किया है—'तत्त्वमत्रत्यं मत्कृतज्ञानार्णवादवसेयम्'—पृ० २०। दिगम्बराचार्य शुभचन्द्र का भी एक ज्ञानार्णव नामक ग्रंथ मिलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभी देशों के विद्वानों की यह परिपाटी रही है और आज भी है कि वे किसी विषय पर जब बहुत बड़ा ग्रंथ लिखें तब उसी विषय पर अधिकारी विशेष की दृष्टि से मध्यम परिमाण का या लघु परिमाण का अथवा दोनों परिमाण का ग्रंथ भी रचें। हम भारतवर्ष के साहित्यिक इतिहास को देखें तो प्रत्येक विषय के साहित्य में उस परिपाटी के नमूने देखेंगे। उपाध्यायजी ने खुद भी अनेक विषयों पर लिखते समय उस परिपाटी का अनुसरण किया है। उन्होंने नय, सप्तभंगी आदि अनेक विषयों पर छोटे-छोटे प्रकरण भी लिखे हैं, और उन्हीं विषयों पर बड़े-बड़े ग्रंथ भी लिखे हैं। उदाहरणार्थ 'नयप्रदीप', 'नयरहस्य' आदि जब छोटे-छोटे प्रकरण हैं, तब 'अनेकान्तव्यवस्था', 'नयामृततरंगिणी' आदि बड़े या आकर ग्रंथ भी हैं। जान पड़ता है ज्ञान विषय पर लिखते समय भी उन्होंने पहले 'ज्ञानार्णव' नाम का आकर ग्रंथ लिखा और पीछे ज्ञानबिंदु नाम का एक छोटा पर प्रवेशक ग्रंथ रचा। 'ज्ञानार्णव' उपलब्ध न होने से उसमें क्या-क्या, कितनी-कितनी और किस-किस प्रकार की चर्चाएँ की गई होंगी, यह कहना संभव नहीं, फिर भी उपाध्यायजी के व्यक्तित्वसूचक साहित्यराशि को देखने से इतना तो निःसन्देह कहा जा सकता है कि उन्होंने उस अर्णवग्रंथ में ज्ञान संबन्धी यच यावच्च कह डाला होगा।

आर्य लोगों की परंपरा में, जीवन को संस्कृत बनानेवाले जो संस्कार माने गए हैं उनमें एक नामकरण संस्कार भी है। यद्यपि यह संस्कार सामान्य रूप से मानवव्यक्तिस्पर्शी ही है, तथापि उस संस्कार की महत्ता और अन्वर्थता का विचार आर्य परंपरा में बहुत व्यापक रहा है, जिसके फलस्वरूप आर्यगण नामकरण करते समय बहुत कुछ सोच विचार करते आए हैं। इसकी व्याप्ति यहाँ तक बढ़ी, कि फिर तो किसी भी चीज का जब नाम रखना होता है तो, उस पर खास विचार कर लिया जाता है। ग्रन्थों के नामकरण तो रचयिता विद्वानों के द्वारा ही होते हैं, अतएव वे अन्वर्थता के साथ-साथ अपने नामकरण में नवीनता और पूर्व परंपरा का भी यथासंभव सुयोग साधते हैं। 'ज्ञानबिन्दु' नाम अन्वर्थ तो है ही, पर उसमें नवीनता तथा पूर्व परंपरा का मेल भी है। पूर्व परंपरा इसमें अनेकमुखी व्यक्त हुई है। बौद्ध, ब्राह्मण और जैन परंपरा के अनेक विषयों के ऐसे प्राचीन ग्रन्थ आज भी ज्ञात हैं, जिनके अन्त में 'बिन्दु' शब्द आता है। धर्मकीर्त्ति के 'हेतुबिन्दु' और 'न्यायबिन्दु' जैसे ग्रन्थ न केवल उपाध्यायजी ने नाम मात्र से सुने ही थे बल्कि उनका उन ग्रन्थों का परिशीलन भी रहा। वाचस्पति मिश्र के 'तत्त्वबिन्दु' और मधुसूदन सरस्वती के 'सिद्धान्तबिन्दु' आदि ग्रन्थ सुविश्रुत हैं, जिनमें से 'सिद्धान्तबिन्दु' का तो उपयोग प्रस्तुत 'ज्ञान-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिन्दु' में उपाध्यायजी ने किया[1] भी है। आचार्य हरिभद्र के बिन्दु अन्तवाले 'योगबिन्दु' और 'धर्मबिन्दु' प्रसिद्ध हैं। इन बिन्दु अन्तवाले नामों की सुंदर और सार्थक पूर्व परंपरा को उपाध्यायजी ने प्रस्तुत ग्रंथ में व्यक्त करके 'ज्ञानार्णव' और 'ज्ञानबिन्दु' की नवीन जोड़ी के द्वारा नवीनता भी अर्पित की है।

२. विषय

ग्रन्थकार ने प्रतिपाद्य रूप से जिस विषय को पसन्द किया है वह तो ग्रन्थ के नाम से ही प्रसिद्ध है। यों तो ज्ञान की महिमा मानववंश मात्र में प्रसिद्ध है, फिर भी आर्य जाति का वह एक मात्र जीवन-साध्य रहा है। जैन परंपरा में ज्ञान की आराधना और पूजा की विविध प्रणालियाँ इतनी प्रचलित हैं कि कुछ भी नहीं जाननेवाला जैन भी इतना तो प्रायः जानता है कि ज्ञान पाँच प्रकार का होता है। कई ऐतिहासिक प्रमाणों से ऐसा मानना पड़ता है कि ज्ञान के पाँच प्रकार, जो जैन परंपरा में प्रसिद्ध हैं, वे भगवान् महावीर के पहले से प्रचलित होने चाहिए। पूर्वश्रुत जो भगवान महावीर के पहले का माना जाता है और जो बहुत पहले से नष्ट हुआ समझा जाता है, उसमें एक 'ज्ञानप्रवाद' नाम का पूर्व था जिसमें श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परंपरा के अनुसार पंचविध ज्ञान का वर्णन था।

उपलब्ध श्रुत में प्राचीन समझे जानेवाले कुछ अंगों में भी उनकी स्पष्ट चर्चा है। 'उत्तराध्ययन'[2] जैसे प्राचीन मूल सूत्र में भी उनका वर्णन है। 'नन्दिसूत्र' में तो केवल पाँच ज्ञानों का ही वर्णन है। 'आवश्यकनिर्युक्ति' जैसे प्राचीन व्याख्या ग्रन्थ में पाँच ज्ञानों को ही मंगल मानकर शुरू में उनका वर्णन किया है।[3] कर्म विषयक साहित्य के प्राचीन से प्राचीन समझे जानेवाले ग्रन्थों में भी पञ्चविध ज्ञान के आधार पर ही कर्म-प्रकृतियों का विभाजन[4] है, जो लुप्त हुए 'कर्मप्रवाद' पूर्व की अवशिष्ट परंपरा मात्र है। इस पञ्चविध ज्ञान का सारा स्वरूप दिगम्बर-श्वेताम्बर जैसे दोनों ही प्राचीन संघों में एक-सा रहा है। यह सब इतना सूचित करने के लिए पर्याप्त है कि पञ्चविध ज्ञान विभाग और उसका अमुक वर्णन तो बहुत ही प्राचीन होना चाहिए।

प्राचीन जैन साहित्य की जो कार्मग्रन्थिक परंपरा है तदनुसार[4] मति, श्रुत,

---

१ 'अत एव स्वयमुक्तं तपस्विना सिद्धान्तबिन्दौ'—पृ० २४।

२ अध्ययन २८, गा० ४५।

३ आवश्यकनिर्युक्ति, गा० १ से आगे।

४ पंचसंग्रह, पृ० १०८. गा० ३। प्रथम कर्मग्रन्थ, गा० ४। गोम्मटसार जीवकांड, गा० २९९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवधि, मनःपर्याय और केवल ये पाँच नाम ज्ञानविभाग सूचक फलित होते हैं। जब कि आगमिक परम्परा के अनुसार मति के स्थान में 'अभिनिबोध नाम है। बाकी के अन्य चारों नाम कार्मग्रन्थिक परम्परा के समान ही हैं। इस तरह जैन परम्परागत पञ्चविध ज्ञानदर्शक नामों में कार्मग्रन्थिक और आगमिक परम्परा के अनुसार प्रथम ज्ञान के बोधक 'मति' और 'अभिनिबोध' ये दो नाम समानार्थक या पर्याय रूप से फलित होते हैं। बाकी के चार ज्ञान के दर्शक श्रुत, अवधि आदि चार नाम उक्त दोनों परम्पराओं के अनुसार एक-एक ही हैं। उनके दूसरे कोई पर्याय असली नहीं हैं।

स्मरण रखने की बात यह है कि जैन परम्परा के सम्पूर्ण साहित्य ने, लौकिक और लोकोत्तर सब प्रकार के ज्ञानों का समावेश उक्त पञ्चविध विभाग में से किसी न किसी विभाग में, किसी न किसी नाम से किया है। समावेश का यह प्रयत्न जैन परम्परा के सारे इतिहास में एक-सा है। जब-जब जैनाचार्यों को अपने आप किसी नए ज्ञान के बारे में, या किसी नए ज्ञान के नाम के बारे में प्रश्न पैदा हुआ, अथवा दर्शनान्तरवादियों ने उनके सामने वैसा कोई प्रश्न उपस्थित किया, तब-तब उन्होंने उस ज्ञान का या ज्ञान के विशेष नाम का समावेश उक्त पञ्चविध विभाग में से, यथासंभव किसी एक या दूसरे विभाग में, कर दिया है। अब हमें आगे यह देखना है कि उक्त पञ्चविध ज्ञान-विभाग की प्राचीन जैन भूमिका के आधार पर, क्रमशः किस-किस तरह विचारों का विकास हुआ।

जान पड़ता है, जैन परम्परा में ज्ञान संबन्धी विचारों का विकास दो मार्गों से हुआ है। एक मार्ग तो है स्वदर्शनाभ्यास का और दूसरा है दर्शनान्तराभ्यास का। दोनों मार्ग बहुधा परस्पर संबद्ध देखे जाते हैं। फिर भी उनका पारस्परिक भेद स्पष्ट है, जिसके मुख्य लक्षण ये हैं—स्वदर्शनाभ्यासजनित विकास में दर्शनान्तरीय परिभाषाओं को अपनाने का प्रयत्न नहीं है। न परमतखण्डन का प्रयत्न है और न जल्प एवं वितण्डा कथा का कभी अवलम्बन ही है। उसमें अगर कथा है तो वह एकमात्र तत्त्वबुभुत्सु कथा अर्थात् वाद ही है। जब कि दर्शनान्तराभ्यास के द्वारा हुए ज्ञान विकास में दर्शनान्तरीय परिभाषाओं को आत्मसात् करने का प्रयत्न अवश्य है। उसमें परमत खण्डन के साथ-साथ कभी-कभी जल्पकथा का भी अवलम्बन अवश्य देखा जाता है। इन लक्षणों को ध्यान में रखकर, ज्ञानसंबन्धी जैन विचार-विकास का जब हम अध्ययन करते हैं,

---

१ नन्दी सूत्र, सू० १। आवश्यक निर्युक्ति, गा० १। षट्खंडागम, पु० १, पृ० ३५३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तब उसकी अनेक ऐतिहासिक भूमिकाएँ हमें जैन साहित्य में देखने को मिलती हैं।

ज्ञानविकास की किस भूमिका का आश्रय लेकर प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु ग्रन्थ को उपाध्यायजी ने रचा है इसे ठीक-ठीक समझने के लिए हम यहाँ ज्ञानविकास की कुछ भूमिकाओं का संक्षेप में चित्रण करते हैं। ऐसी ज्ञातव्य भूमिकाएँ नीचे लिखे अनुसार सात कही जा सकती हैं—(१) कर्मशास्त्रीय तथा आगमिक, (२) निर्युक्तिगत, (३) अनुयोगगत, (४) तत्त्वार्थगत, (५) सिद्धसेनीय, (६) जिनभद्रीय और (७) अकलंकीय।

(१) कर्मशास्त्रीय तथा आगमिक भूमिका वह है जिसमें पञ्चविध ज्ञान के मति या अभिनिबोध आदि पाँच नाम मिलते हैं और इन्हीं पाँच नामों के आस-पास स्वदर्शनाभ्यासजनित थोड़ा बहुत गहरा तथा विस्तृत भेद-प्रभेदों का विचार भी पाया जाता है।

(२) दूसरी भूमिका वह है जो प्राचीन निर्युक्ति भाग में, करीब विक्रम की दूसरी शताब्दी तक में, सिद्ध हुई जान पड़ती है।[1] इसमें दर्शनान्तर के अभ्यास का थोड़ा सा असर अवश्य जान पड़ता है। क्योंकि प्राचीन निर्युक्ति में मतिज्ञान के वास्ते मति और अभिनिबोध शब्द के उपरान्त संज्ञा, प्रज्ञा, स्मृति आदि अनेक पर्याय[2] शब्दों की जो वृद्धि देखी जाती है और पञ्चविध ज्ञान का जो प्रत्यक्ष[3] तथा परोक्ष रूप से विभाग देखा जाता है वह दर्शनान्तरीय अभ्यास का ही सूचक है।

---

१ निर्युक्तिसाहित्य को देखने से पता चलता है कि जितना भी निर्युक्ति के नाम से साहित्य उपलब्ध होता है वह सब न तो एक ही आचार्य की कृति है और न वह एक ही शताब्दी में बना है। फिर भी प्रस्तुत ज्ञान की चर्चा करनेवाला आवश्यक निर्युक्ति का भाग प्रथम भद्रबाहु कृत मानने में कोई आपत्ति नहीं है। अतएव उसको यहाँ विक्रम की दूसरी शताब्दी तक में सिद्ध हुआ कहा गया है।

२ आवश्यकनिर्युक्ति, गा० १२।

३ बृहत्कल्पभाष्यान्तर्गत भद्रबाहुकृत निर्युक्ति—गा० ३, २४, २५। यद्यपि टीकाकार ने इन गाथाओं को, भद्रबाहवीय निर्युक्तिगत होने की सूचना नहीं दी है, फिर भी पूर्वापर के संदर्भ को देखने से, इन गाथाओं को निर्युक्तिगत मानने में कोई आपत्ति नहीं है। टीकाकार ने निर्युक्ति और भाष्य का विवेक सर्वत्र नहीं दिखाया है, यह बात तो बृहत्कल्प के किसी पाठक को तुरन्त ही ध्यान में आ सकती है। और खास बात यह है कि न्यायावतार टीका की टिप्पणी के रचयिता देवभद्र, २५ वीं गाथा कि जिसमें स्पष्टतः प्रत्यक्ष और परोक्ष का लक्षण किया गया है, उसको भगवान् भद्रबाहु की होने का स्पष्टतया सूचन करते हैं—न्यायावतार, पृ० १५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) तीसरी भूमिका वह है जो 'अनुयोगद्वार' नामक सूत्र में पाई जाती है, जो कि प्रायः विक्रमीय दूसरी शताब्दी की कृति है। इसमें अक्षपादीय 'न्याय-सूत्र' के चार प्रमाणों का[1] तथा उसी के अनुमान प्रमाण संबन्धी भेद-प्रभेदों का संग्रह है, जो दर्शनान्तरीय अभ्यास का असन्दिग्ध परिणाम है। इस सूत्र में जैन पञ्चविध ज्ञानविभाग को सामने रखते हुए भी उसके कर्त्ता आर्यरक्षित सूरि ने शायद, न्याय दर्शन में प्रसिद्ध प्रमाण विभाग को तथा उसकी परिभाषाओं को जैन विचार क्षेत्र में लाने का सर्व प्रथम प्रयत्न किया है।

(४) चौथी भूमिका वह है जो वाचक उमास्वाति के 'तत्त्वार्थसूत्र' और खासकर उनके स्वोपज्ञ भाष्य में देखी जाती है। यह प्रायः विक्रमीय तीसरी शताब्दी के बाद की कृति है। इसमें निर्युक्ति-प्रतिपादित प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण का उल्लेख करके[2] वाचक ने अनुयोगद्वार में स्वीकृत न्यायदर्शनीय चतुर्विध प्रमाणविभाग की ओर उदासीनता दिखाते हुए[3] निर्युक्तिगत द्विविध प्रमाण विभाग का समर्थन किया है। वाचक के इस समर्थन का आगे के ज्ञान विकास पर प्रभाव यह पड़ा है कि फिर किसी जैन तार्किक ने अपनी ज्ञान-विचारणा में उक्त चतुर्विध प्रमाणविभाग को भूल कर भी स्थान नहीं दिया। हाँ, इतना तो अवश्य हुआ कि आर्यरक्षित सूरि जैसे प्रतिष्ठित अनुयोगधर के द्वारा, एक बार जैन श्रुत में स्थान पाने के कारण, फिर न्यायदर्शनीय वह चतुर्विध प्रमाण विभाग, हमेशा के वास्ते 'भगवती'[4] आदि परम प्रमाण भूत आगमों में भी संगृहीत हो गया है। वाचक उमास्वाति का उक्त चतुर्विध प्रमाणविभाग की ओर उदासीन रहने में तात्पर्य यह जान पड़ता है कि जब जैन आचार्यों का स्वोपज्ञ प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाणविभाग है तब उसी को लेकर ज्ञानों का विचार क्यों न किया जाए? और दर्शनान्तरीय चतुर्विध प्रमाणविभाग पर क्यों भार दिया जाए? इसके सिवाय वाचक ने मीमांसा आदि दर्शनान्तर में प्रसिद्ध अनुमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों का समावेश भी मति-श्रुत में किया[5] जो वाचक के पहले किसी के द्वारा किया हुआ देखा नहीं जाता। वाचक के प्रयत्न की दो बातें खास ध्यान खींचती

---

१ अनुयोगद्वार सूत्र पृ० २११ से। २ तत्त्वार्थसूत्र १. ९–१३।

३ 'चतुर्विधमित्येके नयवादान्तरेण'–तत्त्वार्थभाष्य १–६।

४ 'से किं तं पमाणे? चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–पञ्चक्खे''''''जहा अणुओगदारे तहा णेयव्वं॥' भगवती, श० ५. उ० ३. भाग २. पृ० २११; स्थानांगसूत्र पृ० ४९।

५ तत्त्वार्थभाष्य १–१२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। एक तो वह, जो निर्युक्तिस्वीकृत प्रमाण विभाग की प्रतिष्ठा बढ़ाने से संबन्ध रखती है; और दूसरी वह, जो दर्शनान्तरीय प्रमाण की परिभाषा के साथ मेल बैठाती है और प्रासंगिक रूप से दर्शनान्तरीय प्रमाणविभाग का निराकरण करती है।

(५) पाँचवीं भूमिका, सिद्धसेन दिवाकर के द्वारा किये गए ज्ञान के विचार-विकास की है। सिद्धसेन ने जो अनुमानतः विक्रमीय पाँचवीं शताब्दी के ज्ञात होते हैं—अपनी विभिन्न कृतियों में, कुछ ऐसी बातें ज्ञान के विचार क्षेत्र में प्रस्तुत की हैं जो जैन परंपरा में उनके पहले न किसी ने उपस्थित की थीं और शायद न किसी ने सोची भी थीं। ये बातें तर्क दृष्टि से समझने में जितनी सरल हैं उतनी ही जैन परंपरागत रूढ़ मानस के लिए केवल कठिन ही नहीं बल्कि असमाधानकारक भी हैं। यही वजह है कि दिवाकर के उन विचारों पर, करीब हजार वर्ष तक, न किसी ने सहानुभूतिपूर्वक ऊहापोह किया और न उनका समर्थन ही किया। उपाध्यायजी ही एक ऐसे हुए, जिन्होंने सिद्धसेन के नवीन प्रस्तुत मुद्दों पर सिर्फ सहानुभूतिपूर्वक विचार ही नहीं किया, बल्कि अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा और तर्क से परिमार्जित जैन दृष्टि का उपयोग करके, उन मुद्दों का प्रस्तुत 'ज्ञानबिन्दु' ग्रन्थ में अति विशद और अनेकान्त दृष्टि को शोभा देनेवाला समर्थन भी किया। वे मुद्दे मुख्यतया चार हैं—

१. मति और श्रुत ज्ञान का वास्तविक ऐक्य[१]
२. अवधि और मनःपर्याय ज्ञान का तत्त्वतः अभेद[२]
३ केवल ज्ञान और केवल दर्शन का वास्तविक अभेद[३]
४. श्रद्धानरूप दर्शन का ज्ञान से अभेद[४]

इन चार मुद्दों को प्रस्तुत करके सिद्धसेन ने, ज्ञान के भेद-प्रभेद की पुरानी रेखा पर तार्किक विचार का नया प्रकाश डाला है, जिनको कोई भी, पुरातन रूढ़ संस्कारों तथा शास्त्रों के प्रचलित व्याख्यान के कारण, पूरी तरह समझ न सका। जैन विचारकों में सिद्धसेन के विचारों के प्रति प्रतिक्रिया शुरू हुई। अनेक विद्वान् तो उनका प्रकट विरोध करने[५] लगे, और कुछ विद्वान् इस बारे में उदासीन ही रहे। क्षमाश्रमण जिनभद्र गणी ने बड़े जोरों से विरोध किया। फिर भी हम

---

१ देखो, निश्चयद्वात्रिंशिका का० १६, तथा ज्ञानबिन्दु पृ० १६।
२ देखो, निश्चयद्वा० का० १७ और ज्ञानबिन्दु पृ० १८।
३ देखो, सन्मति काण्ड २ संपूर्ण; और ज्ञानबिन्दु पृ० ३३ से।
४ देखो, सन्मति, २. ३२; और ज्ञानबिन्दु पृ० ४७।
५ जैसे, हरिभद्र—देखो, धर्मसंग्रहणी, गा० १३५२ से तथा नंदीवृत्ति, पृ. ५५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखते हैं कि यह विरोध सिर्फ केवलज्ञान और केवलदर्शन के अभेदवाले मुद्दे पर ही हुआ है। बाकी के मुद्दों पर या तो किसी ने विचार ही नहीं किया या सभी ने उपेक्षा धारण की। पर जब हम प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु से उन्हीं मुद्दों पर उपाध्यायजी का ऊहापोह देखते हैं तब कहना पड़ता है कि उतने प्राचीन युग में भी, सिद्धसेन की वह तार्किकता और सूक्ष्म दृष्टि जैन साहित्य को अद्भुत देन थी। दिवाकर ने इन चार मुद्दों पर के अपने विचार 'निश्चयद्वात्रिंशिका' तथा 'सन्मतिप्रकरण' में प्रकट किए हैं। उन्होंने ज्ञान के विचारक्षेत्र में एक और भी नया प्रस्थान शुरू किया। संभवतः दिवाकर के पहले जैन परंपरा में कोई न्याय विषय का—अर्थात् परार्थानुमान और तत्संबन्धी पदार्थनिरूपक—विशिष्ट ग्रंथ न था। जब उन्होंने अभाव की पूर्ति के लिए 'न्यायावतार' बनाया तब उन्होंने जैन परंपरा में प्रमाणविभाग पर नए सिरे से पूर्निविचार प्रकट किया। आर्यरक्षित-स्वीकृत न्यायदर्शनीय चतुर्विध प्रमाणविभाग को जैन परंपरा में गौण स्थान दे कर, निर्युक्तिकारस्वीकृत द्विविध प्रमाणविभाग को प्रधानता देने वाले वाचक के प्रयत्न का जिक्र हम ऊपर कर चुके हैं। सिद्धसेन ने भी उसी द्विविध[2] प्रमाण विभाग की भूमिका के ऊपर 'न्यायावतार' की रचना की और उस प्रत्यक्ष और परोक्ष-प्रमाणद्वय द्वारा तीन [1]प्रमाणों को जैन परंपरा में सर्व प्रथम स्थान दिया, जो उनके पूर्व बहुत समय से, सांख्य दर्शन तथा वैशेषिक दर्शन में सुप्रसिद्ध थे और अब तक भी हैं। सांख्य[3] और वैशेषिक[4] दोनों दर्शन जिन प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम—इन तीन प्रमाणों को मानते आए हैं, उनको भी अब एक तरह से, जैन परम्परा में स्थान मिला, जो कि वादकथा और परार्थानुमान की दृष्टि से

---

१ देखो, न्यायावतार, श्लो० १।

२ यद्यपि सिद्धसेन ने प्रमाण का प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से द्विविध विभाग किया है किन्तु प्रत्यक्ष, अनुमान, और शब्द इन तीनों का पृथक् पृथक् लक्षण किया है।

३ सांख्यकारिका, का० ४।

४ प्रमाण के भेद के विषय में सभी वैशेषिक एकमत नहीं। कोई उसके दो भेद तो कोई उसके तीन भेद मानते हैं। प्रशस्तपादभाष्य में (पृ० २१३) शाब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में है। उसके टीकाकार श्रीधर का भी वही मत है (कंदली, पृ० २१३) किन्तु व्योमशिव को वैसा एकान्त रूप से इष्ट नहीं—देखो व्योमवती, पृ० ५७७, ५८४। अतः जहाँ कहीं वैशेषिकसंमत तीन, प्रमाणों का उल्लेख हो वह व्योमशिव का समझना चाहिए—देखो, न्यायावतार टीकाटिप्पण, पृ० ६ तथा प्रमाणमीमांसा भाषाटिप्पण पृ० २३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहुत उपयुक्त है। इस प्रकार जैन परम्परा में न्याय, सांख्य और वैशेषिक तीनों दर्शन सम्मत प्रमाण विभाग प्रविष्ट हुआ। यहां पर सिद्धसेनस्वीकृत इस त्रिविध प्रमाणविभाग की जैन परम्परा में, आर्यरक्षितीय चतुर्विध विभाग की तरह, उपेक्षा ही हुई या उसका विशेष आदर हुआ ?—यह प्रश्न अवश्य होता है, जिस पर हम आगे जाकर कुछ कहेंगे।

(६) छठी भूमिका, वि० ७ वीं शताब्दी वाले जिनभद्र गणी की है। प्राचीन समय से कर्म-शास्त्र तथा आगम की परम्परा के अनुसार जो मति, श्रुत आदि पाँच ज्ञानों का विचार जैन परम्परा में प्रचलित था, और जिसपर निर्युक्तिकार तथा प्राचीन अन्य व्याख्याकारों ने एवं नंदी जैसे आगम के प्रणेताओं ने, अपनी अपनी दृष्टि व शक्ति के अनुसार, बहुत कुछ कोटिक्रम भी बढ़ाया था, उसी विचारभूमिका का आश्रय लेकर क्षमाश्रमण जिनभद्र ने अपने विशाल ग्रन्थ 'विशेषावश्यकभाष्य' में पञ्चविध ज्ञान की आचूडांत साङ्गोपांग मीमांसा [1]की। और उसी आगम सम्मत पञ्चविध ज्ञानों पर तर्कदृष्टि से आगम प्रणाली का समर्थ करनेवाला गहरा प्रकाश डाला। 'तत्त्वार्थसूत्र' पर व्याख्या लिखते समय, पूज्यपाद देवनन्दी और भट्टारक अकलंक ने भी पञ्चविध ज्ञान के समर्थन में, मुख्यतया तर्कप्रणाली का ही अवलंबन लिया है। क्षमाश्रमण की इस विकास भूमिका को तर्कोपजीवी आगम भूमिका कहनी चाहिए, क्योंकि उन्होंने किसी भी जैन तार्किक से कम तार्किकता नहीं दिखाई; फिर भी उनका सारा तर्क बल आगमिक सीमाओं के घेरे में ही घिरा रहा—जैसा कि कुमारिल तथा शंकराचार्य का सारा तर्कबल श्रुति की सीमाओं के घेरे में ही सीमित रहा। क्षमाश्रमण ने अपने इस विशिष्ट आवश्यक भाष्य में ज्ञानों के बारे में उतनी अधिक विचार सामग्री व्यवस्थित की है कि जो आगे के सभी श्वेताम्बर ग्रन्थ प्रणेताओं के लिए मुख्य आधारभूत बनी हुई हैं। उपाध्यायजी तो जब कभी जिस किसी प्रणाली से ज्ञानों का निरूपण करते हैं तब मानों क्षमाश्रमण के विशेषावश्यकभाष्य को अपने मन में पूर्ण रूपेण प्रतिष्ठित कर लेते हैं[2]। प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु में भी उपाध्यायजी ने वही किया है [3]।

---

१ विशेषावश्यक भाष्य में ज्ञानपञ्चकाधिकार ने ही ८४० गाथाएँ जितना बड़ा भाग रोक रखा है। कोट्याचार्य की टीका के अनुसार विशेषावश्यक की सब मिलकर ४३४६ गाथाएँ हैं।

२ पाठकों को इस बात की प्रतीति, उपाध्यायजी कृत जैनतर्कभाषा को, उसकी टिप्पणों के साथ देखने से हो जायगी।

३ देखो, ज्ञानबिन्दु की टिप्पणी पृ० ६१, ६८–७३ इत्यादि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(७) सातवीं भूमिका भट्ट अकलंक की है, जो विक्रमीय आठवीं शताब्दी के विद्वान् हैं। ज्ञान विचार के विकास क्षेत्र में भट्टारक अकलंक का प्रयत्न बहुमुखी है। इस बारे में उनके तीन प्रयत्न विशेष उल्लेख योग्य हैं। पहला प्रयत्न तत्त्वार्थसूत्रावलम्बी होने से प्रधानतया पराश्रित है। दूसरा प्रयत्न सिद्धसेनीय 'न्यायावतार' का प्रतिबिम्बग्राही कहा जा सकता है, फिर भी उसमें उनकी विशिष्ट स्वतन्त्रता स्पष्ट है। तीसरा प्रयत्न 'लघीयस्त्रय' और खासकर 'प्रमाणसंग्रह' में है, जिसे उनकी एकमात्र निजी सूझ कहना ठीक है। उमास्वाति ने, मीमांसक आदि सम्मत अनेक प्रमाणों[1] का समावेश मति और श्रुत में होता है—ऐसा सामान्य ही कथन किया था; और पूज्यपाद[2] ने भी वैसा ही सामान्य कथन किया था। परन्तु, अकलंक ने उससे आगे बढ़कर विशेष विश्लेषण के द्वारा 'राजवार्त्तिक' में[3] यह बतलाया कि दर्शानान्तरीय वे सब प्रमाण, किस तरह अनक्षर और अक्षरश्रुत में समाविष्ट हो सकते हैं। 'राजवार्त्तिक' सूत्रावलम्बी होने से उसमें इतना ही विशदीकरण पर्याप्त है; पर उनको जब धर्मकीर्त्ति के 'प्रमाणविनिश्चय' का अनुकरण करने वाला स्वतन्त्र 'न्यायविनिश्चय' ग्रंथ बनाना पड़ा, तब उन्हें परार्थानुमान तथा वादगोष्ठी को लक्ष्य में रख कर विचार करना पड़ा। उस समय उन्होंने सिद्धसेन स्वीकृत वैशेषिक-सांख्यसम्मत त्रिविध प्रमाणविभाग की प्रणाली का अवलम्बन[4] करके अपने सारे विचार 'न्यायविनिश्चय' में निबद्ध किये। एक तरह से वह 'न्यायविनिश्चय' सिद्धसेनीय 'न्यायावतार' का स्वतन्त्र विस्तृत विशदीकरण ही केवल नहीं है बल्कि अनेक अंशों में पूरक भी है। इस तरह जैन परंपरा में न्यायावतार के सर्व प्रथम समर्थक अकलंक ही हैं।

इतना होने पर भी, अकलंक के सामने कुछ प्रश्न ऐसे थे जो उनसे जवाब चाहते थे। पहला प्रश्न यह था, कि जब आप मीमांसकादिसम्मत अनुमान प्रभृति विविध प्रमाणों का श्रुत में समावेश करते हैं, तब उमास्वाति के इस कथन के साथ विरोध आता है, कि वे प्रमाण मति और श्रुत दोनों में समाविष्ट होते हैं। दूसरा प्रश्न उनके सामने यह था, कि मति के पर्याय रूप से जो स्मृति, संज्ञा,

---

१ देखो, तत्त्वार्थ भाष्य, १.१२।

२ देखो, सर्वार्थसिद्धि, १.१०।

३ देखो, राजवार्तिक, १.२०.१५।

४ – न्यायविनिश्चय को अकलंक ने तीन प्रस्तावों में विभक्त किया—प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन। इस से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि उन को प्रमाण के ये तीन भेद मुख्यतया न्यायविनिश्चय की रचना के समय इष्ट होंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिन्ता जैसे शब्द निर्युक्तिकाल से प्रचलित हैं और जिन को उमास्वाति ने भी मूल सूत्र में संगृहीत किया है, उनका कोई विशिष्ट तात्पर्य किंवा उपयोग है या नहीं ? तदतिरिक्त उन के सामने खास प्रश्न यह भी था, कि जब सभी जैनाचार्य अपने प्राचीन पञ्चविध ज्ञानविभाग में दर्शनान्तरसम्मत प्रमाणों का तथा उनके नामों का समावेश करते आए हैं, तब क्या जैन परंपरा में भी प्रमाणों की कोई दार्शनिक परिभाषाएँ या दार्शनिक लक्षण हैं या नहीं ?; अगर हैं तो वे क्या हैं ? और आप यह भी बतलाइए कि वे सब प्रमाणलक्षण या प्रमाणपरिभाषाएँ सिर्फ दर्शनान्तर से उधार ली हुई हैं या प्राचीन जैन ग्रंथों में उनका कोई मूल भी है ? इसके सिवाय अकलंक को एक बड़ा भारी प्रश्न यह भी परेशान कर रहा जान पड़ता है, कि तुम जैन तार्किकों की सारी प्रमाणप्रणाली कोई स्वतन्त्र स्थान रखती है या नहीं ? अगर वह स्वतन्त्र स्थान रखती है तो उसका सर्वांगीण निरूपण कीजिए। इन तथा ऐसे ही दूसरे प्रश्नों का जवाब अकलंक ने थोड़े में 'लघीयस्त्रय' में दिया है, पर 'प्रमाणसंग्रह' में वह बहुत स्पष्ट है। जैनतार्किकों के सामने दर्शनान्तर की दृष्टि से उपस्थित होने वाली सब समस्याओं का सुलझाव अकलंक ने सर्व प्रथम स्वतन्त्र भाव से किया जान पड़ता है। इसलिए उनका वह प्रयत्न बिलकुल मौलिक है।

ऊपर के संक्षिप्त वर्णन से यह साफ जाना जा सकता है कि—आठवीं-नवीं शताब्दी तक में जैन परंपरा ने ज्ञान संबन्धी विचार क्षेत्र में स्वदर्शनाभ्यास के मार्ग से और दर्शनान्तराभ्यास के मार्ग से किस-किस प्रकार विकास प्राप्त किया। अब तक में दर्शनान्तरीय आवश्यक परिभाषाओं का जैन परंपरा में आत्मसात्करण तथा नवीन स्वपरिभाषाओं का निर्माण पर्याप्त रूप से हो चुका था। उसमें जल्प आदि कथा के द्वारा परमतों का निरसन भी ठीक-ठीक हो चुका था और पूर्वकाल में नहीं चर्चित ऐसे अनेक नवीन प्रमेयों की चर्चा भी हो चुकी थी। इस पक्की दार्शनिक भूमिका के ऊपर अगले हजार वर्षों में जैन तार्किकों ने बहुत बड़े-बड़े चर्चाजटिल ग्रंथ रचे जिनका इतिहास यहाँ प्रस्तुत नहीं है। फिर भी प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु विषयक उपाध्यायजी का प्रयत्न ठीक-ठीक समझा जा सके, एतदर्थ बीच के समय के जैन तार्किकों की प्रवृत्ति की दिशा संक्षेप में जानना जरूरी है।

आठवीं-नवीं शताब्दी के बाद ज्ञान के प्रदेश में मुख्यतया दो दिशाओं में प्रयत्न देखा जाता है। एक प्रयत्न ऐसा है जो क्षमाश्रमण जिनभद्र के द्वारा विकसित भूमिका का आश्रय लेकर चलता है, जो कि आचार्य हरिभद्र की 'धर्मसंग्रहणी' आदि कृतियों में देखा जाता है। दूसरा प्रयत्न अकलंक के द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकसित भूमिका का अवलम्बन करके शुरू हुआ। इस प्रयत्न में न केवल अकलंक के विद्याशिष्य-प्रशिष्य विद्यानन्द, माणिक्यनन्दी, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र वादिराज आदि दिगम्बर आचार्य ही झुके; किन्तु अभयदेव, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्राचार्य आदि अनेक श्वेताम्बर आचार्यों ने भी अकलंकीय तार्किक भूमिका को विस्तृत किया। इस तर्कप्रधान जैन युग ने जैन मानस में एक ऐसा परिवर्तन पैदा किया जो पूर्वकालीन रूढिबद्धता को देखते हुए आश्चर्यजनक कहा जा सकता है। संभवतः सिद्धसेन दिवाकर के बिलकुल नवीन सूचनों के कारण उनके विरुद्ध जो जैन परंपरा में पूर्वग्रह था वह दसवीं शताब्दी से स्पष्ट रूप में हटने और घटने लगा। हम देखते हैं कि सिद्धसेन की कृति रूप जिस न्यायावतार पर—जो कि सचमुच जैन परंपरा का एक छोटा किन्तु मौलिक ग्रन्थ है—करीब चार शताब्दी तक किसी ने टीकादि नहीं रची थी, उस न्यायावतार की ओर जैन विद्वानों का ध्यान अब गया। सिद्धर्षि ने दसवीं शताब्दी में उस पर व्याख्या लिख कर उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाई और ग्यारहवीं शताब्दी में वादिवैताल शान्तिसूरि ने उस को वह स्थान दिया जो भर्तृहरि ने 'व्याकरणमहाभाष्य' को, कुमारिल ने 'शाबरभाष्य' को, धर्मकीर्त्तिने 'प्रमाणसमुच्चय' को और विद्यानन्द ने 'तत्त्वार्थसूत्र' आदि को दिया था। शान्तिसूरि ने न्यायावतार की प्रथम कारिका पर सटीक पद्यबन्ध 'वार्त्तिक' रचा और साथ ही उसमें उन्होंने यत्र-तत्र अकलंक के विचारों का खण्डन[1] भी किया। इस शास्त्र-रचना प्रचुर युग में न्यायावतार ने दूसरे भी एक जैन तार्किक का ध्यान अपनी ओर खींचा। ग्यारहवीं शताब्दी के जिनेश्वरसूरि ने न्यायावतार की प्रथम ही कारिका को ले कर उस पर एक पद्यबन्ध 'प्रमालक्षण' नामक ग्रन्थ रचा और उसकी व्याख्या भी स्वयं उन्होंने की। यह प्रयत्न दिङ्नाग के 'प्रमाणसमुच्चय' की प्रथम कारिका के ऊपर धर्मकीर्त्ति के द्वारा रचे गए सटीक पद्यबन्ध 'प्रमाणवार्त्तिक' का; तथा पूज्यपाद की 'सर्वार्थसिद्धि' के प्रथम मंगल श्लोक के ऊपर विद्यानन्द के द्वारा रची गई सटीक 'आप्तपरीक्षा' का अनुकरण है। अब तक में तर्क और दर्शन के अभ्यास ने जैन विचारकों के मानस पर अमुक अंश में स्वतन्त्र विचार प्रकट करने के बीज ठीक-ठीक बो दिये थे। यही कारण है कि एक ही न्यायावतार पर लिखने वाले उक्त तीनों विद्वानों की विचारप्रणाली अनेक जगह भिन्न-भिन्न देखी जाती है।

१—जैनतर्कवार्तिक, पृ० १३२; तथा देखो न्यायकुमुदचंद्र—प्रथमभाग, प्रस्तावना पृ० ८२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अबतक जैन परम्परा ने ज्ञान के विचारक्षेत्र में जो अनेकमुखी विकास प्राप्त किया था और जो विशालप्रमाण ग्रन्थराशि पैदा की थी एवं जो मानसिक स्वातंत्र्य की उच्च तार्किक भूमिका प्राप्त की थी, वह सब तो उपाध्याय यशोविजयजी को विरासत में मिली ही थी, पर साथ ही में उन्हें एक ऐसी सुविधा भी प्राप्त हुई थी जो उनके पहले किसी जैन विद्वान् को न मिली थी। यह सुविधा है उदयन तथा गंगेशप्रणीत नव्य न्यायशास्त्र के अभ्यास का साक्षात् विद्याधाम [1]काशी में अवसर मिलना। इस सुविधा का उपाध्यायजी की जिज्ञासा और प्रज्ञा ने कैसा और कितना उपयोग किया इसका पूरा खयाल तो उसी को आ सकता है जिसने उनकी सब कृतियों का थोड़ा सा भी अध्ययन किया हो। नव्य न्याय के उपरान्त उपाध्यायजी ने उस समय तक के अति प्रसिद्ध और विकसित पूर्वमीमांसा तथा वेदान्त आदि वैदिक दर्शनों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का भी अच्छा परिशीलन किया। आगमिक और दार्शनिक ज्ञान की पूर्वकालीन तथा समकालीन समस्त विचार सामग्री को आत्मसात् करने के बाद उपाध्यायजी ने ज्ञान के निरूपणक्षेत्र में पदार्पण किया।

उपाध्यायजी की मुख्यतया ज्ञाननिरूपक दो कृतियाँ हैं। एक 'जैनतर्कभाषा' और दूसरी प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु'। पहली कृति का विषय यद्यपि ज्ञान ही है तथापि उसमें उसके नामानुसार तर्कप्रणाली या प्रमाणपद्धति मुख्य है। तर्कभाषा का मुख्य उपादान 'विशेषावश्यकभाष्य' है, पर वह अकलंक के 'लघीयस्त्रय' तथा 'प्रमाणसंग्रह' का परिष्कृत किन्तु नवीन अनुकरण संस्करण[2] भी है। प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु में प्रतिपाद्य रूपसे उपाध्यायजी ने पञ्चविध ज्ञान वाला आगमिक विषय ही चुना है जिसमें उन्होंने पूर्वकाल में विकसित प्रमाणपद्धति को कहीं

---

१ देखो जैनतर्कभाषा की प्रशिस्त–'पूर्वं न्यायविशारदत्वविरुदं काश्यां प्रदत्तं बुधैः।'

२ लघीयस्त्रय में तृतीय प्रवचनप्रवेश में क्रमशः प्रमाण, नय और निक्षेप का वर्णन अकलंक ने किया है। वैसे ही प्रमाणसंग्रह के अंतिम नवम प्रस्ताव में भी उन्हीं तीन विषयों का संक्षेप में वर्णन है। लघीयस्त्रय और प्रमाणसंग्रह में अन्यत्र प्रमाण और नय का विस्तृत वर्णन तो है ही, फिर भी उन दोनों ग्रन्थों के अंतिम प्रस्ताव में प्रमाण, नय और निक्षेप की एक साथ संक्षिप्त चर्चा उन्होंने कर दी है जिससे स्पष्टतया उन तीनों विषयों का पारस्परिक भेद समझ में आ जाए। यशोविजयजी ने अपनी तर्कभाषा को, इसी का अनुकरण करके, प्रमाण, नय, और निक्षेप इन तीन परिच्छेदों में विभक्त किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी स्थान नहीं दिया। फिर भी जिस युग, जिस विरासत और जिसप्रतिभा के वे धारक थे, वह सब अति प्राचीन पञ्चविध ज्ञान की चर्चा करने वाले उनके प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु ग्रन्थ में न आए यह असंभव है। अतएव हम आगे जाकर देखेंगे कि पहले के करीब दो हजार वर्ष के जैन साहित्य में पञ्चविधज्ञानसंबन्धी विचार क्षेत्र में जो कुछ सिद्ध हो चुका था वह तो करीब-करीब सब, प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु में आया ही है, पर उस के अतिरिक्त ज्ञानसंबन्धी अनेक नए विचार भी इस ज्ञानबिन्दु में सन्निविष्ट हुए हैं; जो पहले के किसी जैन ग्रन्थ में नहीं देखे जाते। एक तरह से प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु विशेषावश्यकभाष्यगत पञ्चविधज्ञान-वर्णन का नया परिष्कृत और नवीन दृष्टिसे सम्पन्न संस्करण है।

३. रचनाशैली

प्रस्तुत ग्रन्थ ज्ञानबिन्दु की रचनाशैली किस प्रकार की है इसे स्पष्ट समझने के लिए शास्त्रों की मुख्य-मुख्य शैलियों का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है। सामान्य रूपसे दार्शनिक परंपरा में चार शैलियाँ प्रसिद्ध हैं—१. सूत्र शैली, २. कारिका शैली ३. व्याख्या शैली, और ४. वर्णन शैली। मूल रूपसे सूत्र शैली का उदाहरण है 'न्यायसूत्र' आदि। मूल रूपसे कारिका शैली का उदाहरण है 'सांख्यकारिका' आदि। गद्य-पद्य या उभय रूपमें जब किसी मूल ग्रन्थ पर व्याख्या रची जाती है तब वह है व्याख्या शैली—जैसे 'भाष्य' वार्तिकादि' ग्रन्थ जिस में स्वोपज्ञ या अन्योपज्ञ किसी मूल का अवलम्बन न हो; किंतु जिस में ग्रंथकार अपने प्रतिपाद्य विषय का स्वतन्त्र भाव से सीधे तौर पर वर्णन ही वर्णन करता जाता है और प्रसकानुप्रसक्त अनेक मुख्य विषय संबंधी विषयों को उठाकर उनके निरूपण द्वारा मुख्य विषय के वर्णन को ही पुष्ट करता है वह है वर्णन या प्रकरण शैली। प्रस्तुत ग्रंथ की रचना, इस वर्णन शैली से की गई है। जैसे विद्यानन्द ने 'प्रमाणपरीक्षा' रची, जैसे मधुसूदन सरस्वती ने 'वेदान्तकल्पलतिका' और सदानन्द ने 'वेदान्तसार' वर्णन शैली से बनाए, वैसे ही उपाध्यायजी ने ज्ञानबिन्दु की रचना वर्णन शैली से की है। इस में अपने या किसी अन्य के रचित गद्य या पद्य रूप मूल का अवलम्बन नहीं है। अतएव समूचे रूपसे ज्ञानबिन्दु किसी मूल ग्रन्थ की व्याख्या नहीं है। वह तो सीधे तौर से प्रतिपाद्य रूप से पसन्द किये गए ज्ञान और उसके पञ्चविध प्रकारों का निरू-पण अपने ढंग से करता है। इस निरूपण में ग्रन्थकार ने अपनी योग्यता और मर्यादा के अनुसार मुख्य विषय से संबंध रखने वाले अनेक विषयों की चर्चा छानबीन के साथ की है जिसमें उन्होंने पक्ष या विपक्ष रूप से अनेक ग्रन्थकारों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के मन्तव्यों के अवतरण भी दिये हैं। यद्यपि ग्रन्थकार ने आगे जाकर 'सन्मति' की अनेक गाथाओं को लेकर (पृ० ३३) उनका क्रमशः स्वयं व्याख्यान भी किया है, फिर भी वस्तुतः उन गाथाओं को लेना तथा उनका व्याख्यान करना प्रासंगिक मात्र है। जब केवलज्ञान के निरूपण का प्रसंग आया और उस संबंध में आचार्यों के मतभेदों पर कुछ लिखना प्राप्त हुआ, तब उन्होंने सन्मतिगत कुछ महत्त्व की गाथाओं को लेकर उनके व्याख्यान रूप से अपना विचार प्रकट कर दिया है। खुद उपाध्यायजी ने ही 'एतच्च तत्त्वं सयुक्तिकं सम्मतिगाथाभिरेव प्रदर्शयामः' (पृ० ३३) कहकर वह भाव स्पष्ट कर दिया है। उपाध्यायजी ने 'अनेकान्तव्यवस्था' आदि अनेक प्रकरण ग्रंथ लिखे हैं जो ज्ञानबिंदु के समान वर्णन शैली के हैं। इस शैली का अवलम्बन करने की प्रेरणा करनेवाले वेदान्तकल्पलतिका, वेदान्तसार, 'न्यायदीपिका' आदि अनेक वैसे ग्रंथ थे जिनका उन्होंने उपयोग भी किया है।

ग्रन्थ का आभ्यन्तर स्वरूप

ग्रंथ के आभ्यन्तर स्वरूप का पूरा परिचय तो तभी संभव है जब उस का अध्ययन—अर्थग्रहण और ज्ञात अर्थ का मनन—पुनः पुनः चिन्तन किया जाए। फिर भी इस ग्रंथ के जो अधिकारी हैं उन की बुद्धि को प्रवेशयोग्य तथा रुचिसम्पन्न बनाने की दृष्टि से यहाँ उस के विषय का कुछ स्वरूपवर्णन करना जरूरी है। ग्रंथकार ने ज्ञान के स्वरूप को समझाने के लिए जिन मुख्य मुख्य मुद्दों पर चर्चा की है और प्रत्येक मुख्य मुद्दे की चर्चा करते समय प्रासंगिक रूप से जिन दूसरे मुद्दों पर भी विचार किया है, उन मुद्दों का यथासंभव दिग्दर्शन कराना इस जगह इष्ट है। हम ऐसा दिग्दर्शन कराते समय यथासम्भव तुलनात्मक और ऐतिहासिक दृष्टि का उपयोग करेंगे जिससे अभ्यासीगण ग्रन्थकार द्वारा चर्चित मुद्दों को और भी विशालता के साथ अवगाहन कर सकें तथा ग्रंथ के अंत में जो टिप्पण दिये गए हैं उनका हार्द समझने की एक कुंजी भी पा सकें। प्रस्तुत वर्णन में काम में लाई जाने वाली तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि यथासंभव परिभाषा, विचार और साहित्य इन तीन प्रदेशों तक ही सीमित रहेगी।

१. ज्ञान की सामान्य चर्चा

ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की पीठिका रचते समय उस के विषयभूत ज्ञान की ही सामान्य रूप से पहले चर्चा की है, जिसमें उन्हों ने दूसरे अनेक मुद्दों पर शास्त्रीय प्रकाश डाला है। वे मुद्दे ये हैं—

१. ज्ञान सामान्य का लक्षण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. उसकी पूर्ण-अपूर्ण अवस्थाएं तथा उन अवस्थाओं के कारण और प्रतिबन्धक कर्म का विश्लेषण

३. ज्ञानावारक कर्म का स्वरूप

४. एक तत्त्व में 'आवृतानावृतत्व' के विरोध का परिहार

५. वेदान्तमत में 'आवृतानवृतत्व' की अनुपपत्ति

६. अपूर्णज्ञानगत तारतम्य तथा उसकी निवृत्ति का कारण

७. क्षयोपशम की प्रक्रिया।

१. [१][1] ग्रन्थकार ने शुरू ही में ज्ञानसामान्य का जैनसम्मत ऐसा स्वरूप बतलाया है कि जो एक मात्र आत्मा का गुण है और जो स्व तथा पर का प्रकाशक है वह ज्ञान है। जैनसम्मत इस ज्ञानस्वरूप की दर्शनान्तरीय ज्ञान-स्वरूप के साथ तुलना करते समय आर्यचिन्तकों की मुख्य दो विचारधाराएँ ध्यान में आती हैं। पहली धारा है सांख्य और वेदान्त में, और दूसरी है बौद्ध, न्याय आदि दर्शनों में। प्रथम धारा के अनुसार, ज्ञान गुण और चित् शक्ति इन दोनों का आधार एक नहीं है; क्योंकि पुरुष और ब्रह्म ही उस में चेतन माना गया है; जब कि पुरुष और ब्रह्म से अतिरिक्त अन्तःकरण को ही उसमें ज्ञान का आधार माना गया है। इस तरह प्रथम धारा के अनुसार चेतना और ज्ञान दोनों भिन्न-भिन्न आधारगत हैं। दूसरी धारा, चैतन्य और ज्ञान का आधार भिन्न-भिन्न न मान कर, उन दोनों को एक आधारगत अतएव कारण-कार्यरूप मानती है। बौद्धदर्शन चित्त में, जिसे वह नाम भी कहता है, चैतन्य और ज्ञान का अस्तित्व मानता है। जब कि न्यायादि दर्शन क्षणिक चित्त के बजाय स्थिर आत्मा में ही चैतन्य और ज्ञान का अस्तित्व मानते हैं। जैन दर्शन दूसरी विचारधारा का अवलम्बी है। क्योंकि वह एक ही आत्मतत्त्व में कारण रूप से चेतना को और कार्य रूप से उस के ज्ञान पर्याय को मानता है। उपाध्यायजी ने उसी भाव ज्ञान को आत्म-गुण—धर्म कह कर प्रकट किया है।

२. उपाध्यायजी ने फिर बतलाया है कि ज्ञान पूर्ण भी होता है और अपूर्ण भी। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जब आत्मा चेतनस्वभाव है तब उस में ज्ञान की कभी अपूर्णता और कभी पूर्णता क्यों? इसका उत्तर देते समय उपाध्याय जी ने कर्मस्वभाव का विश्लेषण किया है। उन्होंने कहा है कि [२] आत्मा पर एक ऐसा भी आवरण है जो चेतना-शक्ति को पूर्णरूप में कार्य करने नहीं

---

१ इस तरह चतुष्कोण कोष्ठक में दिये गए ये अंक ज्ञानबिन्दु के मूल ग्रन्थ की कंडिका के सूचक हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देता। यही आवरण पूर्ण ज्ञान का प्रतिबन्धक होने से केवलज्ञानावरण कहलाता है। यह आवरण जैसे पूर्ण ज्ञान का प्रतिबन्ध करता है वैसे ही अपूर्ण ज्ञान का जनक भी बनता है। एक ही केवलज्ञानावरण को पूर्ण ज्ञान का तो प्रतिबन्धक और उसी समय अपूर्ण ज्ञान का जनक भी मानना चाहिए।

अपूर्ण ज्ञान के मति श्रुत आदि चार प्रकार हैं। और उन के मतिज्ञानावरण आदि चार आवरण भी पृथक-पृथक माने गए हैं। उन चार आवरणों के क्षयोपशम से ही मति आदि चार अपूर्ण ज्ञानों की उत्पत्ति मानी जाती है। तब यहां, उन अपूर्ण ज्ञानों की उत्पत्ति केवलज्ञानावरण से क्यों मानना? ऐसा प्रश्न सहज है। उसका उत्तर उपाध्यायजी ने शास्त्रसम्मत [३] कह कर ही दिया है, फिर भी वह उत्तर उन की स्पष्ट सूझ का परिणाम है; क्योंकि इस उत्तर के द्वारा उपाध्यायजी ने जैन शास्त्र में चिर प्रचलित एक पक्षान्तर का सयुक्तिक निरास कर दिया है। वह पक्षान्तर ऐसा है कि—जब केवलज्ञानावरण के क्षय से मुक्त आत्मा में केवलज्ञान प्रकट होता है, तब मतिज्ञानावरण आदि चारों आवरण के क्षय से केवली में मति आदि चार ज्ञान भी क्यों न माने जाएँ? इस प्रश्न के जवाब में, कोई एक पक्ष कहता है कि—केवली में मति आदि चार ज्ञान उत्पन्न तो होते हैं पर वे केवलज्ञान से अभिभूत होने के कारण कार्यकारी नहीं। इस चिरप्रचलित पक्ष को निर्युक्तिक सिद्ध करने के लिए उपाध्यायजी ने एक नई युक्ति उपस्थित की है कि अपूर्ण ज्ञान तो केवलज्ञानावरण का ही कार्य है, चाहे उस अपूर्ण ज्ञान का तारतम्य या वैविध्य मतिज्ञानावरण आदि शेष चार आवरणों के क्षयोपशम वैविध्य का कार्य क्यों न हो, पर अपूर्ण ज्ञानावस्था मात्र पूर्ण ज्ञानावस्था के प्रतिबन्धक केवलज्ञानावरण के सिवाय कभी सम्भव ही नहीं। अतएव केवली में जब केवलज्ञानावरण नहीं है तब तज्जन्य कोई भी मति आदि अपूर्ण ज्ञान केवली में हो ही कैसे सकते हैं सचमुच उपाध्यायजी की यह युक्ति शास्त्रानुकूल होने पर भी उनके पहले किसी ने इस तरह स्पष्ट रूप से सुझाई नहीं है।

३. [४] सघन मेघ और सूर्य प्रकाश के साथ केवलज्ञानावरण और चेतनाशक्ति की शास्त्रप्रसिद्ध तुलना के द्वारा उपाध्यायजी ने ज्ञानावरण कर्म के स्वरूप के बारे में दो बातें खास सूचित की हैं। एक तो यह, कि आवरण कर्म एक प्रकार का द्रव्य है; और दूसरी यह, कि वह द्रव्य कितना ही निबिड—उत्कट क्यों न हो, फिर भी वह अति स्वच्छ अभ्र जैसा होने से अपने आवार्य ज्ञान गुण को सर्वथा आवृत कर नहीं सकता।

कर्म के स्वरूप के विषय में भारतीय चिन्तकों की दो परम्पराएँ हैं। बौद्ध, न्याय दर्शन आदि की एक; और सांख्य, वेदांत आदि की दूसरी है। बौद्ध दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्लेशावरण,[1] ज्ञेयावरण आदि अनेक कर्मावरणों को मानता है। पर उसके मतानुसार चित्त का वह आवरण मात्र संस्काररूप[2] फलित होता है जो कि द्रव्य-स्वरूप नहीं है। न्याय आदि दर्शनों के अनुसार भी ज्ञानावरण—अज्ञान, ज्ञान-गुण का प्रागभाव मात्र होने से अभाव रूप ही फलित होता है, द्रव्यरूप नहीं। जब कि सांख्य, वेदान्त के अनुसार आवरण जड़ द्रव्यरूप अवश्य सिद्ध होता है। सांख्य के[3] अनुसार बुद्धिसत्त्व का आवारक तमोगुण है जो एक सूक्ष्म जड़ द्रव्यांश मात्र है। वेदान्त के[4] अनुसार भी आवरण—अज्ञान नाम से वस्तुतः एक प्रकार का जड़ द्रव्य ही माना गया है जिसे सांख्य-परिभाषा के अनुसार प्रकृति या अन्तःकरण कह सकते हैं। वेदान्त ने मूल-अज्ञान और अवस्था-अज्ञान रूप से या मूलाविद्या[5] और तुलाविद्या रूप से अनेकविध आवरणों की कल्पना की है जो जड़ द्रव्यरूप ही हैं। जैन परंपरा तो ज्ञानावरण कर्म हो या दूसरे कर्म—सब को अत्यन्त स्पष्ट रूप से एक प्रकार का जड़ द्रव्य बतलाती है। पर इसके साथ ही वह अज्ञान—रागद्वेषात्मक परिणाम, जो आत्मगत है और जो पौद्गलिक कर्म-द्रव्य का कारण तथा कार्य भी है, उसको भाव कर्म रूप से बौद्ध आदि दर्शनों की तरह संस्कारात्मक मानती है[6]।

जैनदर्शनप्रसिद्ध ज्ञानावरणीय शब्द के स्थान में नीचे लिखे शब्द दर्शनान्तरों में प्रसिद्ध हैं। बौद्धदर्शन में अविद्या और ज्ञेयावरण। सांख्य-योगदर्शन में अविद्या और प्रकाशावरण। न्याय-वैशेषिक-वेदान्त दर्शन में अविद्या और अज्ञान।

४ [पृ० २. पं० ३] आवृतत्व और अनावृतत्व परस्पर विरुद्ध होने से किसी एक वस्तु में एक साथ रह नहीं सकते और पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार तो एक ही चेतना एक समय में केवलज्ञानावरण से आवृत भी और अनावृत भी मानी गई है, सो कैसे घट सकेगा? इसका जवाब उपाध्यायजी ने अनेकान्त दृष्टि से दिया है। उन्होंने कहा है कि यद्यपि चेतना एक ही है फिर भी पूर्ण और अपूर्ण प्रकाशरूप नाना ज्ञान उसके पर्याय हैं जो कि चेतना से कथञ्चित् भिन्ना-

---

१ देखो, तत्त्वसंग्रह पंजिका, पृ० ८६६।

२ स्याद्वादर०, पृ० ११०१।

३ देखो, स्याद्वादर०, पृ० ११०३।

४ देखो, विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ० २१; तथा न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ८०६।

५ वेदान्तपरिभाषा, पृ० ७२।

६ गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिन्न हैं। केवलज्ञानावरण के द्वारा पूर्ण प्रकाश के आवृत होने के समय ही उसके द्वारा अपूर्ण प्रकाश अनावृत भी है। इस तरह दो भिन्न पर्यायों में ही आवृतत्व और अनावृतत्व है जो कि पर्यायार्थिक दृष्टि से सुघट है। फिर भी जब द्रव्यार्थिक दृष्टि की विवक्षा हो, तब द्रव्य की प्रधानता होने के कारण, पूर्ण और अपूर्णज्ञान रूप पर्याय, द्रव्यात्मक चेतना से भिन्न नहीं। अतएव उस दृष्टि से उक्त दो पर्यायगत आवृतत्व-अनावृतत्व को एक चेतनागत मानने और कहने में कोई विरोध नहीं। उपाध्यायजी ने द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दृष्टि का विवेक सूचित करके आत्मतत्त्व का जैन दर्शन सम्मत परिणामित्व स्वरूप प्रकट किया है जो कि केवल नित्यत्व या कूटस्थत्ववाद से भिन्न है।

५. [५] उपाध्यायजी ने जैन दृष्टि के अनुसार 'आवृतानावृतत्व' का समर्थन ही नहीं किया बल्कि इस विषय में वेदान्त मत को एकान्तवादी मान कर उसका खण्डन भी किया है। जैसे वेदान्त ब्रह्म को एकान्त कूटस्थ मानता है वैसे ही सांख्य-योग भी पुरुष को एकान्त कूटस्थ अतएव निर्लेप, निर्विकार और निरंश मानता है। इसी तरह न्याय आदि दर्शन भी आत्मा को एकान्त नित्य ही मानते हैं। तब ग्रन्थकार ने एकान्तवाद में 'आवृतानावृतत्व' की अनुपपत्ति सिर्फ वेदान्त मत की समालोचना द्वारा ही क्यों दिखाई? अर्थात् उन्होंने सांख्य-योग आदि मतों की भी समालोचना क्यों नहीं की?—यह प्रश्न अवश्य होता है। इसका जवाब यह जान पड़ता है कि केवल ज्ञानावरण के द्वारा चेतना की 'आवृतानावृतत्व' विषयक प्रस्तुत चर्चा का जितना साम्य (शब्दतः और अर्थतः) वेदान्त दर्शन के साथ पाया जाता है उतना सांख्य आदि दर्शनों के साथ नहीं। जैन दर्शन शुद्ध चेतनतत्त्व को मान कर उस में केवलज्ञानावरण की स्थिति मानता है और उस चेतन को उस केवलज्ञानावरण का विषय भी मानता है। जैनमतानुसार केवलज्ञानावरण चेतनतत्त्व में ही रह कर अन्य पदार्थों की तरह स्वाश्रय चेतन को भी आवृत करता है जिससे कि स्वपरप्रकाशक चेतना न तो अपना पूर्ण प्रकाश कर पाती है और न अन्य पदार्थों का ही पूर्ण प्रकाश कर सकती है। वेदान्त मत की प्रक्रिया भी वैसी ही है। वह भी अज्ञान को शुद्ध चिद्रूप ब्रह्म में ही स्थित मान कर, उसे उसका विषय बतलाकर कहती है कि अज्ञान ब्रह्मनिष्ठ होकर ही उसे आवृत करता है जिससे कि उसका 'अखण्डत्व' आदि रूप से तो प्रकाश नहीं हो पाता, तब भी चिद्रूप से प्रकाश होता ही है। जैन प्रक्रिया के शुद्ध चेतन और केवलज्ञानावरण तथा वेदान्त प्रक्रिया के चिद्रूप ब्रह्म और अज्ञान पदार्थ में, जितना अधिक साम्य है उतना शाब्दिक और आर्थिक साम्य, जैन प्रक्रिया का अन्य सांख्य आदि प्रक्रिया के साथ नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। क्योंकि सांख्य या अन्य किसी दर्शन की प्रक्रिया में अज्ञान के द्वारा चेतन या आत्मा के आवृतानावृत होने का वैसा स्पष्ट और विस्तृत विचार नहीं है, जैसा वेदान्त प्रक्रिया में है। इसी कारण से उपाध्यायजी ने जैन प्रक्रिया का समर्थन करने के बाद उसके साथ बहुत अंशों में मिलती-जुलती वेदान्त प्रक्रिया का खण्डन किया है पर दर्शनान्तरीय प्रक्रिया के खण्डन का प्रयत्न नहीं किया।

उपाध्यायजी ने वेदान्त मत का निरास करते समय उसके दो पक्षों का पूर्वपक्ष रूपसे उल्लेख किया है। उन्होंने पहला पक्ष विवरणाचार्य का [५] और दूसरा वाचस्पति मिश्र का [६] सूचित किया है। वस्तुतः[1] वेदान्त दर्शन में वे दोनों पक्ष बहुत पहले से प्रचलित हैं। ब्रह्म को ही अज्ञान का आश्रय और विषय मानने वाला प्रथम पक्ष, सुरेश्वराचार्य की 'नैष्कर्म्यसिद्धि' और उनके शिष्य सर्वज्ञात्ममुनि के 'संक्षेपशारीरकवार्त्तिक' में, सविस्तर वर्णित है। जीव को अज्ञान का आश्रय और ब्रह्म को उसका विषय मानने वाला दूसरा पक्ष मण्डन मिश्र का कहा गया है। ऐसा होते हुए भी उपाध्यायजी ने पहले पक्ष को विवरणाचार्य—प्रकाशात्म यति का और दूसरे को वाचस्पति मिश्र का सूचित किया है; इसका कारण खुद वेदान्त दर्शन की वैसी प्रसिद्धि है। विवरणाचार्य ने सुरेश्वर के मत का समर्थन किया और वाचस्पति मिश्र ने मण्डन मिश्र के मत का। इसी से वे दोनों पक्ष क्रमशः विवरणाचार्य और वाचस्पति मिश्र के प्रस्थान-रूप से प्रसिद्ध हुए। उपाध्यायजी ने इसी प्रसिद्धि के अनुसार उल्लेख किया है।

समालोचना के प्रस्तुत मुद्दे के बारे में उपाध्यायजी का कहना इतना ही है कि अगर वेदांत दर्शन ब्रह्म को सर्वथा निरंश और कूटस्थ स्वप्रकाश मानता है, तब वह उस में अज्ञान के द्वारा किसी भी तरह से 'आवृतानावृतत्व' घटा नहीं सकता; जैसा कि जैन दर्शन घटा सकता है।

६. [७] जैन दृष्टि के अनुसार एक ही चेतना में 'आवृतानावृतत्व' की उपपत्ति करने के बाद भी उपाध्यायजी के सामने एक विचारणीय प्रश्न आया। वह यह कि केवलज्ञानावरण चेतना के पूर्णप्रकाश को आवृत करने के साथ ही जब अपूर्ण प्रकाश को पैदा करता है, तब वह अपूर्ण प्रकाश, एकमात्र केवलज्ञाना-वरणरूप कारण से जन्य होने के कारण एक ही प्रकार का हो सकता है। क्योंकि कारणवैविध्य के सिवाय कार्य का वैविध्य सम्भव नहीं। परन्तु जैन शास्त्र और अनुभव तो कहता है कि अपूर्ण ज्ञान अवश्य तारतम्ययुक्त ही है। पूर्णता में एकरूपता का होना संगत है पर अपूर्णता में तो एकरूपता असंगत है। ऐसी

---

१ देखो, ज्ञानबिन्दु के टिप्पण पृ० ५५ पं० २५ से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दशा में अपूर्ण ज्ञान के तारतम्य का खुलासा क्या है सो आप बतलाइए ?। इस का जवाब देते हुए उपाध्यायजी ने असली रहस्य यही बतलाया है कि अपूर्ण ज्ञान केवलज्ञानावरण-जनित होने से सामान्यतया एकरूप ही हैं; फिर भी उसके अवान्तर तारतम्य का कारण अन्यावरणसंबन्धी क्षयोपशमों का वैविध्य है। घनमेघावृत सूर्य का अपूर्ण-मन्द प्रकाश भी वस्त्र, कट, भित्ति आदि उपाधिभेद से नानारूप देखा ही जाता है। अतएव मतिज्ञानावरण आदि अन्य आवरणों के विविध क्षयोपशमों से—विरलता से मन्द प्रकाश का तारतम्य संगत है। जब एकरूप मन्द प्रकाश भी उपाधिभेद से चित्र-विचित्र संभव है, तब यह अर्थात् ही सिद्ध हो जाता है कि उन उपाधियों के हटने पर वह वैविध्य भी खतम हो जाता है। जब केवलज्ञानावरण क्षीण होता है तब बारहवें गुणस्थान के अन्त में अन्य मति आदि चार आवरण और उनके क्षयोपशम भी नहीं रहते। इसी से उस समय अपूर्ण ज्ञान की तथा तद्गत तारतम्य की निवृत्ति भी हो जाती है। जैसे कि सान्द्र मेघपटल तथा वस्त्र आदि उपाधियों के न रहने पर सूर्य का मन्द प्रकाश तथा उसका वैविध्य कुछ भी बाकी नहीं रहता, एकमात्र पूर्ण प्रकाश ही स्वतः प्रकट होता है; वैसे ही उस समय चेतना भी स्वतः पूर्णतया प्रकाशमान होती है जो कैवल्यज्ञानावस्था है।

उपाधि की निवृत्ति से उपाधिकृत अवस्थाओं की निवृत्ति बतलाते समय उपाध्यायजी ने आचार्य हरिभद्र के कथन का हवाला देकर आध्यात्मिक विकास-क्रम के स्वरूप पर जानने लायक प्रकाश डाला है। उनके कथन का सार यह है कि आत्मा के औपाधिक पर्याय—धर्म भी तीन प्रकार के हैं। जाति गति आदि पर्याय मात्र कर्मोदयरूप-उपाधिकृत हैं। अतएव वे अपने कारणभूत अघाती कर्मों के सर्वथा हट जाने पर ही मुक्ति के समय निवृत्त होते हैं। क्षमा, सन्तोष आदि तथा मति ज्ञान आदि ऐसे पर्याय हैं जो क्षयोपशमजन्य हैं। तात्त्विक धर्मसंन्यास की प्राप्ति होने पर आठवें आदि गुणस्थानों में जैसे जैसे कर्म के क्षयोपशम का स्थान उसका क्षय प्राप्त करता जाता है वैसे वैसे क्षयोपशमरूप उपाधि के न रहने से उन पर्यायों में से तज्जन्य वैविध्य भी चला जाता है। जो पर्याय कर्मक्षयजन्य होने से क्षायिक अर्थात् पूर्ण और एकरूप ही हैं उन पर्यायों का अस्तित्व अगर देहव्यापारादिरूप उपाधिसहित हैं, तो उन पूर्ण पर्यायों का भी अस्तित्व मुक्ति में (जब कि देहादि उपाधि नहीं है) नहीं रहता। अर्थात् उस समय वे पूर्ण पर्याय होते तो हैं, पर सोपाधिक नहीं; जैसे कि सदेह क्षायिकचारित्र भी मुक्ति में नहीं माना जाता। उपाध्यायजी ने उक्त चर्चा से यह बतलाया है कि आत्मपर्याय वैभाविक—उदयजन्य हो या स्वाभाविक पर अगर वे सोपाधिक हैं तो अपनी-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी उपाधि हटने पर वे नहीं रहते। मुक्त दशा में सभी पर्याय सब प्रकार की बाह्य उपाधि से मुक्त ही माने जाते हैं।

दार्शनिक परिभाषाओं की तुलना

उपाध्यायजी ने जैनप्रक्रिया-अनुसारी जो भाव जैन परिभाषा में बतलाया है वही भाव परिभाषाभेद से इतर भारतीय दर्शनों में भी यथावत् देखा जाता है। सभी दर्शन आध्यात्मिक विकासक्रम बतलाते हुए संक्षेप में उत्कट मुमुक्षा, जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति इन तीन अवस्थाओं को समान रूप से मानते हैं, और वे जीवन्मुक्त स्थिति में, जब कि क्लेश और मोह का सर्वथा अभाव रहता है तथा पूर्ण ज्ञान पाया जाता है; विपाकारम्भी आयुष आदि कर्म की उपाधि से देहधारण और जीवन का अस्तित्व मानते हैं; तथा जब विदेह मुक्ति प्राप्त होती है तब उक्त आयुष आदि कर्म की उपाधि सर्वथा न रहने से तज्जन्य देहधारण आदि कार्य का अभाव मानते हैं। उक्त तीन अवस्थाओं को स्पष्ट रूप से जताने वाली दार्शनिक परिभाषाओं की तुलना इस प्रकार है—

	१ उत्कट मुमुक्षा	२ जीवन्मुक्ति	३ विदेहमुक्ति
१ जैन	तात्त्विक धर्मसंन्यास, क्षपक श्रेणी।	सयोगि-अयोगि-गुणस्थान; सर्वज्ञत्व, अर्हत्त्व।	मुक्ति, सिद्धत्व।
२ सांख्य-योग	परवैराग्य, प्रसंख्यान, संप्रज्ञात।	असंप्रज्ञात, धर्ममेघ।	स्वरूपप्रतिष्ठचिति, कैवल्य।
३ बौद्ध	क्लेशावरणहानि, नैरात्म्यदर्शन।	ज्ञेयावरणहानि, सर्वज्ञत्व, अर्हत्त्व।	निर्वाण, निराश्रव-चित्तसंतति।
४ न्याय-वैशेषिक	युक्तयोगी	वियुक्तयोगी	अपवर्ग
५ वेदान्त	निर्विकल्पक समाधि	ब्रह्मसाक्षात्कार, ब्रह्मनिष्ठत्व।	स्वरूपलाभ, मुक्ति।

दार्शनिक इतिहास से जान पड़ता है कि हर एक दर्शन की अपनी-अपनी उक्त परिभाषा बहुत पुरानी है। अतएव उनसे बोधित होने वाला विचारस्रोत तो और भी पुराना समझना चाहिए।

[८] उपाध्यायजी ने ज्ञान सामान्य की चर्चा का उपसंहार करते हुए ज्ञाननिरूपण में बार-बार आने वाले क्षयोपशम शब्द का भाव बतलाया है। एक मात्र जैन साहित्य में पाये जाने वाले क्षयोपशम शब्द का विवरण उन्होंने आर्हत मत के रहस्यज्ञाताओं की प्रक्रिया के अनुसार उसी की परिभाषा में किया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। उन्होंने अति विस्तृत और अति विशद वर्णन के द्वारा जो रहस्य प्रकट किया है वह दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों परंपराओं को एक-सा सम्मत है। [1]पूज्यपाद ने अपनी लाक्षणिक शैली में क्षयोपशम का स्वरूप अति संक्षेप में स्पष्ट ही किया है। राजवार्त्तिककार ने उस पर कुछ और विशेष प्रकाश डाला है। परन्तु इस विषय पर जितना और जैसा विस्तृत तथा विशद वर्णन श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में खासकर मलयगिरीय टीकाओं में पाया जाता है उतना और वैसा विस्तृत व विशद वर्णन हमने अभी तक किसी भी दिगम्बरीय प्राचीन-अर्वाचीन ग्रन्थ में नहीं देखा। जो कुछ हो पर श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परंपराओं का प्रस्तुत विषय में विचार और परिभाषा का ऐक्य सूचित करता है कि क्षयोपशमविषयक प्रक्रिया अन्य कई प्रक्रियाओं की तरह बहुत पुरानी है और उसको जैन तत्त्वज्ञों ने ही इस रूप में इतना अधिक विकसित किया है।

क्षयोपशम की प्रक्रिया का मुख्य वक्तव्य इतना ही है कि अध्यवसाय की विविधता ही कर्मगत विविधता का कारण है। जैसी-जैसी रागद्वेषादिक की तीव्रता या मन्दता वैसा-वैसा ही कर्म की विपाकजनक शक्ति का—रस का तीव्रत्व या मन्दत्व। कर्म की शुभाशुभता के तारतम्य का आधार एक मात्र अध्यवसाय की शुद्धि तथा अशुद्धि का तारतम्य ही है। जब अध्यवसाय में संक्लेश की मात्रा तीव्र हो तब तज्जन्य अशुभ कर्म में अशुभता तीव्र होती है और तज्जन्य शुभ कर्म में शुभता मन्द होती है। इसके विपरीत जब अध्यवसाय में विशुद्धि की मात्रा बढ़ने के कारण संक्लेश की मात्रा मन्द हो जाती है तब तज्जन्य शुभ कर्म में शुभता की मात्रा तो तीव्र होती है और तज्जन्य अशुभ कर्म में अशुभता मन्द हो जाती है। अध्यवसाय का ऐसा भी बल है जिससे कि कुछ तीव्रतमविपाकी कर्मांश का तो उदय के द्वारा ही निर्मूल नाश हो जाता है और कुछ वैसे ही कर्मांश विद्यमान होते हुए भी अकिञ्चित्कर बन जाते हैं, तथा मन्दविपाकी कर्मांश ही अनुभव में आते हैं। यही स्थिति क्षयोपशम की है।

ऊपर कर्मशक्ति और उसके कारण के संबन्ध में जो जैन सिद्धान्त बतलाया है वह शब्दान्तर से और रूपान्तर से (संक्षेप में ही सही) सभी पुनर्जन्मवादी दर्शनान्तरों में पाया जाता है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य और बौद्ध दर्शनों में यह स्पष्ट बतलाया है कि जैसी राग-द्वेष-मोहरूप कारण की तीव्रता-मन्दता वैसी धर्माधर्म या कर्म संस्कारों की तीव्रता-मंदता। वेदांत दर्शन भी जैन सम्मत कर्म की तीव्र-मंद शक्ति की तरह अज्ञान गत नानाविध तीव्र-मंद शक्तियों का वर्णन करता है, जो तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के पहले से लेकर तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के बाद भी यथा-

१. देखो, ज्ञानबिंदु टिप्पण पृ० ६२, पं० से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संभव काम करती रहती हैं। इतर सब दर्शनों की अपेक्षा उक्त विषय में जैन दर्शन के साथ योग दर्शन का अधिक साम्य है। योग दर्शन में क्लेशों की जो प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार—ये चार अवस्थाएँ बतलाई हैं वे जैन परिभाषा के अनुसार कर्म की सत्तागत, क्षायोपशमिक और औदयिक अवस्थाएँ हैं। अतएव खुद उपाध्यायजी ने पातञ्जलयोगसूत्रों के ऊपर की अपनी संक्षिप्त वृत्ति में पतञ्जलि और उसके भाष्यकार की कर्म विषयक विचारसरणी तथा परिभाषाओं के साथ जैन प्रक्रिया की तुलना की है, जो विशेष रूप से ज्ञातव्य है।—देखो, योगदर्शन, यशो० २.४।

यह सब होते हुए भी कर्म विषयक जैनेतर वर्णन और जैन वर्णन में खास अंतर भी नजर आता है। पहला तो यह कि जितना विस्तृत, जितना विशद और जितना पृथक्करणवाला वर्णन जैन ग्रंथों में है उतना विस्तृत, विशद और पृथक्करण युक्त कर्म वर्णन किसी अन्य जैनेतर साहित्य में नहीं है। दूसरा अंतर यह है कि जैन चिंतकों ने अमूर्त्त अध्यवसायों या परिणामों की तीव्रता-मंदता तथा शुद्धि-अशुद्धि के दुरूह तारतम्य को पौद्गलिक[1]—मूर्त्त कर्म रचनाओं के द्वारा व्यक्त करने का एवं समझाने का जो प्रयत्न किया है वह किसी अन्य चिंतक ने नहीं किया है। यही सबब है कि जैन वाङ्मय में कर्म विषयक एक स्वतंत्र साहित्य राशि ही चिरकाल से विकसित है।

---

१ न्यायसूत्र के व्याख्याकारों ने अदृष्ट के स्वरूप के संबन्ध में पूर्व पक्ष रूप से एक मत का निर्देश किया है। जिसमें उन्होंने कहा है कि कोई अदृष्ट को परमाणुगुण मानने वाले भी हैं—न्यायभाष्य ३. २. ६६। वाचस्पति मिश्र ने उस मत को स्पष्टरूपेण जैनमत (तात्पर्य० पृ० ५८४) कहा है। जयन्त ने (न्यायमं० प्रमाण० पृ० २५५) भी पौद्गलिक अदृष्टवादी रूप से जैन मत को ही बतलाया है और फिर उन सभी व्याख्याकारों ने उस मत की समालोचना की है। जान पड़ता है कि न्यायसूत्र के किसी व्याख्याता ने अदृष्टविषयक जैन मत को ठीक ठीक नहीं समझा है। जैन दर्शन मुख्य रूप से अदृष्ट को आत्मपरिणाम ही मानता है। उसने पुद्गलों को जो कर्म-अदृष्ट कहा है वह उपचार है। जैन शास्त्रों में आस्रवजन्य या आस्रवजनक रूप से पौद्गलिक कर्म का जो विस्तृत विचार है और कर्म के साथ पुद्गल शब्द का जो बार-बार प्रयोग देखा जाता है उसी से वात्स्यायन आदि सभी व्याख्याकार भ्रान्ति या अधूरे ज्ञानवश खण्डन में प्रवृत्त हुए जान पड़ते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२ मति-श्रुत ज्ञान की चर्चा

ज्ञान की सामान्य रूप से विचारणा करने के बाद ग्रन्थकार ने उसकी विशेष विचारणा करने की दृष्टि से उस के पाँच भेदों में से प्रथम मति और श्रुत का निरूपण किया है। यद्यपि वर्णनक्रम की दृष्टि से मति ज्ञान का पूर्णरूपेण निरूपण करने के बाद ही श्रुत का निरूपण प्राप्त है, फिर भी मति और श्रुत का स्वरूप एक दूसरे से इतना विविक्त नहीं है कि एक के निरूपण के समय दूसरे के निरूपण को टाला जा सके इसी से दोनों की चर्चा साथ साथ कर दी गई है [पृ० १६ पं० ६]। इस चर्चा के आधार से तथा उस भाग पर संगृहीत अनेक टिप्पणों के आधार से जिन खास खास मुद्दों पर यहाँ विचार करना है, वे मुद्दे ये हैं—

(१) मति और श्रुत की भेदरेखा का प्रयत्न।
(२) श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित मति का प्रश्न।
(३) चतुर्विध वाक्यार्थ ज्ञान का इतिहास।
(४) अहिंसा के स्वरूप का विचार तथा विकास।
(५) षट्स्थानपतितत्व और पूर्वगत गाथा।
(६) मति ज्ञान के विशेष निरूपण में नया ऊहापोह।

(१) मति और श्रुत की भेदरेखा का प्रयत्न

जैन कर्मशास्त्र के प्रारम्भिक समय से ही ज्ञानावरण कर्म के पाँच भेदों में मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण ये दोनों उत्तर प्रकृतियाँ बिलकुल जुदी मानी गई हैं। अतएव यह भी सिद्ध है कि उन प्रकृतियों के आवार्य रूपसे माने गए मति और श्रुत ज्ञान भी स्वरूप में एक दूसरे से भिन्न ही शास्त्रकारों को इष्ट हैं। मति और श्रुत के पारस्परिक भेद के विषय में तो पुराकाल से ही कोई मतभेद न था और आज भी उस में कोई मतभेद देखा नहीं जाता; पर इन दोनों का स्वरूप इतना अधिक संमिश्रित है या एक दूसरे के इतना अधिक निकट है कि उन दोनों के बीच भेदक रेखा स्थिर करना बहुत कठिन कार्य है; और कभी-कभी तो वह कार्य असंभव सा बन जाता है। मति और श्रुत के बीच भेद है या नहीं, अगर है तो उसकी सीमा किस तरह निर्धारित करना; इस बारे में विचार करने वाले तीन प्रयत्न जैन वाङ्मय में देखे जाते हैं। पहला प्रयत्न आगमानुसारी है, दूसरा आगममूलक तार्किक है, और तीसरा शुद्ध तार्किक है।

[४६] पहले प्रयत्न के अनुसार मति ज्ञान वह कहलाता है जो इन्द्रिय-मनोजन्य है तथा अवग्रह आदि चार विभागों में विभक्त है। और श्रुत ज्ञान वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहलाता है जो अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य रूप से जैन परंपरा में लोकोत्तर शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध है, तथा जो जैनेतर वाङ्मय लौकिक शास्त्ररूप से कहा गया है। इस प्रयत्न में मति और श्रुत की भेदरेखा सुस्पष्ट है, क्योंकि इसमें श्रुतपद जैन परंपरा के प्राचीन एवं पवित्र माने जानेवाले शास्त्र मात्र से प्रधानतया संबन्ध रखता है, जैसा कि उस का सहोदर श्रुति पद वैदिक परंपरा के प्राचीन एवं पवित्र माने जाने वाले शास्त्रों से मुख्यतया संबन्ध रखता है। यह प्रयत्न आगमिक इसलिए है कि उसमें मुख्यतया आगमपरंपरा का ही अनुसरण है। 'अनुयोगद्वार' तथा 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' में पाया जानेवाला श्रुत का वर्णन इसी प्रयत्न का फल है, जो बहुत पुराना जान पड़ता है। (देखो, अनुयोगद्वार सूत्र सू० ३ से और तत्त्वार्थ० १. २०)।

[१५, २६ से] दूसरे प्रयत्न में मति और श्रुत की भेदरेखा तो मान ही ली गई है; पर उस में जो कठिनाई देखी जाती है वह है भेदक रेखा का स्थान निश्चित करने की। पहले की अपेक्षा दूसरा प्रयत्न विशेष व्यापक है; क्योंकि पहले प्रयत्न के अनुसार श्रुत ज्ञान जब शब्द से ही संबन्ध रखता है तब दूसरे प्रयत्न में शब्दातीत ज्ञानविशेष को भी श्रुत मान लिया गया है। दूसरे प्रयत्न के सामने जब प्रश्न हुआ कि मति ज्ञान में भी कोई अंश सशब्द और कोई अंश अशब्द है, तब सशब्द और शब्दातीत माने जानेवाले श्रुत ज्ञान से उसका भेद कैसे समझना ? इसका जवाब दूसरे प्रयत्न ने अधिक गहराई में जाकर यह दिया कि असल में मतिलब्धि और श्रुतलब्धि तथा मत्युपयोग और श्रुतोपयोग परस्पर बिलकुल पृथक् हैं, भले ही वे दोनों ज्ञान सशब्द तथा अशब्द रूप से एक समान हों। दूसरे प्रयत्न के अनुसार दोनों ज्ञानों का पारस्परिक भेद लब्धि और प्रयोग के भेद की मान्यता पर ही अवलम्बित है; जो कि जैन तत्त्वज्ञान में चिर-प्रचलित रही है। अक्षर श्रुत और अनक्षर श्रुत रूप से जो श्रुत के भेद जैन वाङ्मय में हैं – वह इस दूसरे प्रयत्न का परिणाम है। 'आवश्यकनिर्युक्ति' (ग० १६) और 'नन्दीसूत्र' (सू० ३७) में जो 'अक्खर सन्नी सम्मं' आदि चौदह श्रुतभेद सर्व प्रथम देखे जाते हैं और जो किसी प्राचीन दिगम्बरीय ग्रन्थ में हमारे देखने में नहीं आए, उनमें अक्षर और अनक्षर श्रुत ये दो भेद सर्व प्रथम ही आते हैं। बाकी के बारह भेद उन्हीं दो भेदों के आधार पर अपेक्षाविशेष से गिनाये हुए हैं। यहाँ तक कि प्रथम प्रयत्न के फल स्वरूप माना जानेवाला अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुत भी दूसरे प्रयत्न के फलस्वरूप मुख्य अक्षर और अनक्षर श्रुत में समा जाता है। यद्यपि अक्षरश्रुत आदि चौदह प्रकार के श्रुत का निर्देश 'आवश्यकनिर्युक्ति' तथा 'नन्दी' के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में देखा नहीं जाता,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर भी उन चौदह भेदों के आधारभूत अक्षरानक्षर श्रुत की कल्पना तो प्राचीन ही जान पड़ती है। क्योंकि 'विशेषावश्यकभाष्य' (गा० ११७) में पूर्वगत-रूप से जो गाथा ली गई है उस में अक्षर का निर्देश स्पष्ट है। इसी तरह दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों परंपरा के कर्म-साहित्य में समान रूप से वर्णित श्रुत के बीस प्रकारों में भी अक्षर श्रुत का निर्देश है। अक्षर और अनक्षर श्रुत का विस्तृत वर्णन तथा दोनों का भेदप्रदर्शन 'निर्युक्ति' के आधार पर श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने किया है[1]। भट्ट अकलंक ने भी अक्षरानक्षर श्रुत का उल्लेख एवं निर्वचन 'राजवार्तिक'[2] में किया है—जो कि 'सर्वार्थसिद्धि' में नहीं पाया जाता। जिनभद्र तथा अकलंक दोनों ने अक्षरानक्षर श्रुत का व्याख्यान तो किया है, पर दोनों का व्याख्यान एकरूप नहीं है। जो कुछ हो पर इतना तो निश्चित ही है कि मति और श्रुत ज्ञान की भेदरेखा स्थिर करनेवाले दूसरे प्रयत्न के विचार में अक्षरानक्षर श्रुत रूप से सम्पूर्ण मूक-वाचाल ज्ञान का प्रधान स्थान रहा है—जब कि उस भेद रेखा को स्थिर करने वाले प्रथम प्रयत्न के विचार में केवल शास्त्र-ज्ञान ही श्रुतरूप से रहा है। दूसरे प्रयत्न को आगमानुसारी तार्किक इसलिए कहा है कि उसमें आगमिक परंपरासम्मत मति और श्रुत के भेद को तो मान ही लिया है; पर उस भेद के समर्थन में तथा उसकी रेखा आँकने के प्रयत्न में, क्या दिगम्बर क्या श्वेताम्बर सभी ने बहुत कुछ तर्क पर दौड़ लगाई है।

[५०] तीसरा प्रयत्न शुद्ध तार्किक है जो सिर्फ सिद्धसेन दिवाकर का ही जान पड़ता है। उन्होंने मति और श्रुत के भेद को ही मान्य नहीं रखा[3]। अतएव उन्होंने भेदरेखा स्थिर करने का प्रयत्न भी नहीं किया। दिवाकर का यह प्रयत्न आगमनिरपेक्ष तर्कावलम्बी है। ऐसा कोई शुद्ध तार्किक प्रयत्न, दिगम्बर वाङ्मय में देखा नहीं जाता। मति और श्रुत का अभेद दर्शानेवाला यह प्रयत्न सिद्धसेन दिवाकर की खास विशेषता सूचित करता है। वह विशेषता यह कि उनकी दृष्टि विशेषतया अभेदगामिनी रही, जो कि उस युग में प्रधानतया प्रतिष्ठित अद्वैत भावना का फल जान पड़ता है। क्योंकि उन्होंने न केवल मति और श्रुत में ही आगमसिद्ध भेदरेखा के विरुद्ध तर्क किया, बल्कि [4]अवधि और

---

१ देखो, विशेषावश्यकभाष्य, गा० ४६४ से।

२ देखो, राजवार्तिक १.२०.१५।

३ देखो, निश्चयद्वात्रिंशिका श्लो० १६; ज्ञानबिन्दु पृ० १६।

४ देखो, निश्चयद्वा० १७; ज्ञानबिन्दु पृ० १८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनःपर्याय में तथा [1]केवलज्ञान और केवलदर्शन में माने जानेवाले आगम-सिद्ध भेद को भी तर्क के बल पर अमान्य किया है।

उपाध्यायजी ने मति और श्रुत की चर्चा करते हुए उनके भेद, भेद की सीमा और अभेद के बारे में, अपने समय तक के जैन वाङ्मय में जो कुछ चिंतन पाया जाता था उस सब का, अपनी विशिष्ट शैली से उपयोग करके, उपर्युक्त तीनों प्रयत्नों का समर्थन सूक्ष्मतापूर्वक किया है। उपध्यायजी की सूक्ष्म दृष्टि प्रत्येक प्रयत्न के आधारभूत दृष्टिबिन्दु तक पहुँच जाती है। इसलिए वे परस्पर विरोधी दिखाई देने वाले पक्षभेदों का भी समर्थन कर पाते हैं। जैन विद्वानों में उपाध्यायजी ही एक ऐसे हुए जिन्होंने मति और श्रुत की आगमसिद्ध भेदरेखाओं को ठीक-ठीक बतलाते हुए भी सिद्धसेन के अभेदगामी पक्ष को 'नव्य' शब्द के [५०] द्वारा श्लेष से नवीन और स्तुत्य सूचित करते हुए, सूक्ष्म और हृदयङ्गम तार्किक शैली से समर्थन किया।

मति और श्रुत की भेदरेखा स्थिर करनेवाले तथा उसे मिटाने वाले ऐसे तीन प्रयत्नों का जो ऊपर वर्णन किया है, उसकी दर्शनान्तरीय ज्ञानमीमांसा के साथ जब हम तुलना करते हैं, तब भारतीय तत्त्वज्ञों के चिन्तन का विकासक्रम तथा उसका एक दूसरे पर पड़ा हुआ असर स्पष्ट ध्यान में आता है। प्राचीन-तम समय से भारतीय दार्शनिक परंपराएँ आगम को स्वतन्त्र रूप से अलग ही प्रमाण मानती रहीं। सबसे पहले शायद तथागत बुद्ध ने ही आगम के स्वतन्त्र प्रामाण्य पर आपत्ति उठाकर स्पष्ट रूप से यह घोषित किया कि–तुम लोग मेरे वचन को भी अनुभव और तर्क से जाँच कर ही मानो[2]। प्रत्यक्षानुभाव और तर्क पर बुद्ध के द्वारा इतना अधिक भार दिए जाने के फलस्वरूप आगम के स्वतन्त्र प्रामाण्य विरुद्ध एक दूसरी भी विचारधारा प्रस्फुटित हुई। आगम को स्वतन्त्र और अतिरिक्त प्रमाण माननेवाली विचारधारा प्राचीनतम थी जो मीमांसा, न्याय और सांख्य-योग दर्शन में आज भी अनुगुण है, आगम को अतिरिक्त प्रमाण न मानने की प्रेरणा करने वाली दूसरी विचारधारा यद्यपि अपेक्षा-कृत पीछे की है, फिर भी उसका स्वीकार केवल बौद्ध सम्प्रदाय तक ही सीमित न रहा। उसका असर आगे जाकर वैशेषिक दर्शन के व्याख्याकारों पर भी पड़ा

---

१ देखो, सन्मति द्वितीयकाण्ड, तथा ज्ञानबिन्दु पृ० ३३।

२ 'तापाच्छेदाच्च निकषात्सुवर्णमिव पण्डितैः। परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्॥" —तत्त्वसं० का० ३३८८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिससे उन्होंने आगम-श्रुतिप्रमाण का समावेश बौद्धों की तरह अनुमान[1] में ही किया। इस तरह आगम को अतिरिक्त प्रमाण न मानने के विषय में बौद्ध और वैशेषिक दोनों दर्शन मूल में परस्पर विरुद्ध होते हुए भी अविरुद्ध सहोदर बन गए।

जैन परंपरा की ज्ञानमीमांसा में उक्त दोनों विचारधाराएँ मौजूद हैं। मति और श्रुत की भिन्नता माननेवाले तथा उसकी रेखा स्थिर करनेवाले ऊपर वर्णन किये गए आगमिक तथा आगमानुसारी तार्किक-इन दोनों प्रयत्नों के मूल में वे ही संस्कार हैं जो आगम को स्वतंत्र एवं अतिरिक्त प्रमाण माननेवाली प्राचीनतम विचारधारा के पोषक रहे हैं। श्रुत को मति से अलग न मानकर उसे उसी का एक प्रकार मात्र स्थापित करनेवाला दिवाकरश्री का[2] तीसरा प्रयत्न आगम को अतिरिक्त प्रमाण न माननेवाली दूसरी विचारधारा के असर से अछूता नहीं है। इस तरह हम देख सकते हैं कि अपनी सहोदर अन्य दार्शनिक परंपराओं के बीच में ही जीवनधारण करनेवाली तथा फलने-फूलनेवाली जैन परंपरा ने किस तरह उक्त दोनों विचारधाराओं का अपने में कालक्रम से समावेश कर लिया।

(२) श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित मति

[१६] मति ज्ञान की चर्चा के प्रसङ्ग में श्रुतिनिश्रित और अश्रुतनिश्रित भेद का प्रश्न भी विचारणीय है[3]। श्रुतनिश्रित मति ज्ञान वह है जिसमें श्रुतज्ञानजन्य वासना के उद्बोध से विशेषता आती है। अश्रुतनिश्रित मति ज्ञान तो श्रुतज्ञानजन्य वासना के प्रबोध के सिवाय ही उत्पन्न होता है। अर्थात् जिस विषय में श्रुतनिश्रित मति ज्ञान होता है वह विषय पहले कभी उपलब्ध अवश्य

---

१ देखो, प्रशस्तपादभाष्य पृ० ५७६, व्योमवती पृ० ५७७; कंदली पृ० २१३।

२ यद्यपि दिवाकरश्री ने अपनी बत्तीसी (निश्चय० १६) में मति और श्रुत के अभेद को स्थापित किया है फिर भी उन्होंने चिर प्रचलित मति-श्रुत के भेद की सर्वथा अवगणना नहीं की है। उन्होंने न्यायावतार में आगम प्रमाण को स्वतन्त्र रूप से निर्दिष्ट किया है। जान पड़ता है इस जगह दिवाकरश्री ने प्राचीन परंपरा का अनुसरण किया और उक्त बत्तीसी में अपना स्वतन्त्र मत व्यक्त किया। इस तरह दिवाकरश्री के ग्रंथों में आगम प्रमाण को स्वतंत्र अतिरिक्त मानने और न माननेवाली दोनों दर्शनान्तरीय विचारधाराएँ देखी जाती हैं जिन का स्वीकार ज्ञानबिन्दु में उपाध्यायजी ने भी किया है।

३ देखो, ज्ञानबिन्दु टिप्पण पृ० ७०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है, जब कि अश्रुतनिश्रित मति ज्ञान का विषय पहले अनुपलब्ध होता है। प्रश्न यह है कि 'ज्ञानबिन्दु' में उपध्यायजी ने मतिज्ञान रूप से जिन श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित दो भेदों का उपर्युक्त स्पष्टीकरण किया है उनका ऐतिहासिक स्थान क्या है? इसका खुलासा यह जान पड़ता है कि उक्त दोनों भेद उतने प्राचीन नहीं जितने प्राचीन मति ज्ञान के अवग्रह आदि अन्य भेद हैं। क्योंकि मति ज्ञान के अवग्रह आदि तथा बहु, बहुविध आदि सभी प्रकार श्वेताम्बर-दिगम्बर वाङ्मय में समान रूप से वर्णित हैं, तब श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित का वर्णन एक मात्र श्वेताम्बरीय ग्रंथों में है। श्वेताम्बर साहित्य में भी इन भेदों का वर्णन सर्वप्रथम[1] 'नन्दीसूत्र'[2] में ही देखा जाता है। 'अनुयोगद्वार' में तथा 'निर्युक्ति' तक में श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित के उल्लेख का न होना यह सूचित करता है कि यह भेद संभवतः 'नन्दी' की रचना के समय से विशेष प्राचीन नहीं। हो सकता है कि वह सूझ खुद नन्दीकार की ही हो।

यहाँ पर वाचक उमास्वाति के समय के विषय में विचार करनेवालों के लिए ध्यान में लेने योग्य एक वस्तु है। वह यह कि वाचक श्री ने जब मतिज्ञान के अन्य सब प्रकार वर्णित किये हैं[3] तब उन्होंने श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित का अपने भाष्य तक में उल्लेख नहीं किया। स्वयं वाचक श्री, जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं, यथार्थ में उत्कृष्ट संग्राहक[4] हैं। अगर उनके सामने मौजूदा 'नन्दीसूत्र' होता तो वे श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित का कहीं न कहीं संग्रह करने से शायद ही चूकते। अश्रुतनिश्रित के औत्पत्ति की वैनयिकी आदि जिन चार

---

१ यद्यपि अश्रुतनिश्रितरूप से मानी जानेवाली औत्पत्तिकी आदि चार बुद्धियों का नामनिर्देश भगवती (१२. ५) में और आवश्यक निर्युक्ति (गा०-६३८) में है, जो कि अवश्य नंदी के पूर्ववर्ती हैं। फिर भी वहाँ उन्हें अश्रुतनिश्रित शब्द से निर्दिष्ट नहीं किया है और न भगवती आदि में अन्यत्र कहीं श्रुतनिश्रित शब्द से अवग्रह आदि मतिज्ञान का वर्णन है। अतएव यह कल्पना होती है कि अवग्रहादि रूप से प्रसिद्ध मति ज्ञान तथा औत्पत्तिकी आदि रूप से प्रसिद्ध बुद्धियों की क्रमशः श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित रूप से मतिज्ञान की विभागव्यवस्था नन्दि-कार ने ही शायद की हो।

२ देखो, नन्दीसूत्र, सू० २६, तथा ज्ञानबिन्दु टिप्पण पृ० ७०।

३ देखो, तत्त्वार्थ १.१३–१६।

४ देखो, सिद्धहेम २.२.३६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुद्धियों का तथा उनके मनोरंजक दृष्टान्तों का वर्णन[1] पहले से पाया जाता है, उनको अपने ग्रन्थ में कहीं न कहीं संगृहीत करने के लोभ का उमास्वाति शायद ही संवरण करते। एक तरफ से, वाचकश्री ने कहीं भी अक्षर-अनक्षर आदि निर्युक्तिनिर्दिष्ट श्रुतभेदों का संग्रह नहीं किया है; और दूसरी तरफ से, कहीं भी नन्दी-वर्णित श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित मतिभेद का संग्रह नहीं किया है। जब कि उत्तरवर्ती विशेषावश्यकभाष्य में दोनों प्रकार का संग्रह तथा वर्णन देखा जाता है[2]। यह वस्तुस्थिति सूचित करती है कि शायद वाचक उमास्वाति का समय, निर्युक्ति के उस भाग की रचना के समय से तथा नन्दी की रचना के समय से कुछ न कुछ पूर्ववर्ती हो। अस्तु, जो कुछ हो पर उपाध्यायजी ने तो ज्ञानबिन्दु में श्रुत से मति का पार्थक्य बतलाते समय नन्दी में वर्णित तथा विशेषावश्यक-भाष्य में व्याख्यात श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित दोनों भेदों की तात्त्विक समीक्षा कर दी है।

(३) चतुर्विध वाक्यार्थ ज्ञान का इतिहास

[२०–२६] उपाध्यायजी ने एक दीर्घ श्रुतोपयोग कैसे मानना यह दिखाने के लिए चार प्रकार के वाक्यार्थ ज्ञान की मनोरंजक और बोधप्रद चर्चा[3] की है और उसे विशेष रूप से जानने के लिए आचार्य हरिभद्र कृत 'उपदेशपद' आदि का हवाला भी दिया है। यहाँ प्रश्न यह है कि ये चार प्रकार के वाक्यार्थ क्या हैं और उनका विचार कितना पुराना है और वह किस प्रकार से जैन वाङ्मय में प्रचलित रहा है तथा विकास प्राप्त करता आया है। इसका जवाब हमें प्राचीन और प्राचीनतर वाङ्मय देखने से मिल जाता है।

जैन परंपरा में 'अनुगम' शब्द प्रसिद्ध है जिसका अर्थ है व्याख्यानविधि। अनुगम के छह प्रकार आर्यरक्षित सूरि ने अनुयोगद्वार सूत्र (सूत्र० १५५) में बतलाए हैं। जिनमें से दो अनुगम सूत्रस्पर्शी और चार अर्थस्पर्शी हैं। अनुगम शब्द का निर्युक्ति शब्द के साथ सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगम रूप से उल्लेख अनुयोग-द्वार सूत्र से प्राचीन है इसलिए इस बात में तो कोई संदेह रहता ही नहीं कि यह अनुगमपद्धति या व्याख्यान शैली जैन वाङ्मय में अनुयोगद्वार सूत्र से पुरानी और निर्युक्ति के प्राचीनतम स्तर का ही भाग है जो संभवतः श्रुतकेवली भद्र-

१ दृष्टान्तों के लिए देखो नन्दी सूत्र की मलयगिरि की टीका, पृ० १४४ से।
२ देखो, विशेषा० गा० १६६ से, तथा गा० ४५४ से।
३ देखो, ज्ञानबिन्दु टिप्पण पृ० ७३ से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाहुकर्तृक मानी जानेवाली निर्युक्ति का ही भाग होना चाहिए। निर्युक्ति में अनुगम शब्द से जो व्याख्यानविधि का समावेश हुआ है वह व्याख्यानविधि भी वस्तुतः बहुत पुराने समय की एक शास्त्रीय प्रक्रिया रही है। हम जब आर्य परंपरा के उपलब्ध विविध वाङ्मय तथा उनकी पाठशैली को देखते हैं तब इस अनुगम की प्राचीनता और भी ध्यान में आ जाती है। आर्य परंपरा की एक शाखा जरथोस्थियन को देखते हैं तब उसमें भी पवित्र माने जानेवाले अवेस्ता आदि ग्रन्थों का प्रथम विशुद्ध उच्चार कैसे करना, किस तरह पद आदि का विभाग करना इत्यादि क्रम से व्याख्याविधि देखते हैं। भारतीय आर्य परंपरा की वैदिक शाखा में जो मन्त्रों का पाठ सिखाया जाता है और क्रमशः जो उसकी अर्थविधि बतलाई गई है उसकी जैन परंपरा में प्रसिद्ध अनुगम के साथ तुलना करें तो इस बात में कोई संदेह ही नहीं रहता कि यह अनुगमविधि वस्तुतः वही है जो जरथोस्थियन धर्म में तथा वैदिक धर्म में भी प्रचलित थी और आज भी प्रचलित है।

जैन और वैदिक परंपरा की पाठ तथा अर्थविधि विषयक तुलना—

१. वैदिक	२. जैन
१ संहितापाठ (मंत्रपाठ)	१ संहिता (मूलसूत्रपाठ) १
२ पदच्छेद (जिसमें पद, क्रम, जटा आदि आठ प्रकार की विविधानुपूर्विओं का समावेश है)	२ पद २
३ पदार्थज्ञान	३ पदार्थ ३, पदविग्रह ४
४ वाक्यार्थज्ञान	४ चालना ५
५ तात्पर्यार्थनिर्णय	५ प्रत्यवस्थान ६

जैसे वैदिक परंपरा में शुरू में मूल मंत्र को शुद्ध तथा अस्खलित रूप में सिखाया जाता है; अनन्तर उनके पदों का विविध विश्लेषण; इसके बाद जब अर्थविचारणा—मीमांसा का समय आता है तब क्रमशः प्रत्येक पद के अर्थ का ज्ञान; फिर पूरे वाक्य का अर्थ ज्ञान और अन्त में साधक-बाधक चर्चापूर्वक तात्पर्यार्थ का निर्णय कराया जाता है—वैसे ही जैन परंपरा में भी कम से कम निर्युक्ति के प्राचीन समय में सूत्रपाठ से अर्थनिर्णय तक का वही क्रम प्रचलित था जो अनुगम शब्द से जैन परंपरा में व्यवहृत हुआ। अनुगम के छह विभाग जो अनुयोगद्वारसूत्र[1] में हैं उनका परंपरा प्राप्त वर्णन जिनभद्र क्षमाश्रमण ने

१ देखो, अनुयोगद्वारसूत्र सू० १५५ पृ० २६१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विस्तार से किया है[1]। संघदास गणि ने[2] 'बृहत्कल्पभाष्य' में उन छह विभागों के वर्णन के अलावा मतान्तर से पाँच विभागों का भी निर्देश किया है। जो कुछ हो; इतना तो निश्चित है कि जैन परंपरा में सूत्र और अर्थ सिखाने के संबंध में एक निश्चित व्याख्यानविधि चिरकाल से प्रचलित रही। इसी व्याख्यानविधि को आचार्य हरिभद्र ने अपने दार्शनिक ज्ञान के नए प्रकाश में कुछ नवीन शब्दों में नवीनता के साथ विस्तार से वर्णन किया है। हरिभद्रसूरि की उक्ति में कई विशेषताएं हैं जिन्हें जैन वाङ्मय को सर्व प्रथम उन्हीं की देन कहनी चाहिए। उन्होंने उपदेशपद[3] में अर्थानुगम के चिरप्रचलित चार भेदों को कुछ मीमांसा आदि दर्शनज्ञान का ओप देकर नए चार नामों के द्वारा निरूपण किया है। दोनों की तुलना इस प्रकार है—

१. प्राचीन परंपरा	२. हरिभद्रीय
१ पदार्थ	१ पदार्थ
२ पदविग्रह	२ वाक्यार्थ
३ चालना	३ महावाक्यार्थ
४ प्रत्यवस्थान	४ ऐदम्पर्यार्थ

हरिभद्रीय विशेषता केवल नए नाम में ही नहीं है। उनकी ध्यान देने योग्य विशेषता तो चारों प्रकार के अर्थबोध का तरतम भाव समझाने के लिए दिये गए लौकिक तथा शास्त्रीय उदाहरणों में है। जैन परंपरा में अहिंसा, निर्ग्रन्थत्व, दान और तप आदि का धर्म रूप से सर्वप्रथम स्थान है, अतएव जब एक तरफ से उन धर्मों के आचरण पर आत्यन्तिक भार दिया जाता है, तब दूसरी तरफ से उसमें कुछ अपवादों का या छूटों का रखना भी अनिवार्य रूप से प्राप्त हो जाता है। इस उत्सर्ग और अपवाद विधि की मर्यादा को लेकर आचार्य हरिभद्र ने उक्त चार प्रकार के अर्थबोधों का वर्णन किया है।

जैनधर्म की अहिंसा का स्वरूप

अहिंसा के बारे में जैन धर्म का सामान्य नियम यह है कि किसी भी प्राणी का किसी भी प्रकार से घात न किया जाए। यह 'पदार्थ' हुआ। इस पर प्रश्न

---

१ देखो, विशेषावश्यकभाष्य गा० १००२ से।

२ देखो, बृहत्कल्पभाष्य गा० ३०२ से।

३ देखो, उपदेशपद गा० ८५६–८८५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है कि अगर सर्वथा प्राणिघात वर्ज्य है तो धर्मस्थान का निर्माण तथा शिरोमुण्डन आदि कार्य भी नहीं किये जा सकते जो कि कर्तव्य समझे जाते हैं। यह शंकाविचार 'वाक्यार्थ' है। अवश्य कर्तव्य अगर शास्त्रविधिपूर्वक किया जाए तो उसमें होनेवाला प्राणिघात दोषावह नहीं, अविधिकृत ही दोषावह है। यह विचार 'महावाक्यार्थ' है। अन्त में जो जिनाज्ञा है वही एक मात्र उपादेय है ऐसा तात्पर्य निकालना 'ऐदम्पर्यार्थ' है। इस प्रकार सर्व प्राणिहिंसा के सर्वथा निषेधरूप सामान्य नियम में जो विधिविहित अपवादों को स्थान दिलानेवाला और उत्सर्ग-अपवादरूप धर्ममार्ग स्थिर करनेवाला विचार-प्रवाह ऊपर दिखाया गया उसको आचार्य हरिभद्र ने लौकिक दृष्टान्तों से समझाने का प्रयत्न किया है।

अहिंसा का प्रश्न उन्होंने प्रथम उठाया है जो कि जैन परंपरा की जड़ है। यों तो अहिंसा समुच्चय आर्य परंपरा का सामान्य धर्म रहा है। फिर भी धर्म, क्रीडा, भोजन आदि अनेक निमित्तों से जो विविध हिंसाएँ प्रचलित रहीं उनका आत्यन्तिक विरोध जैन परंपरा ने किया। इस विरोध के कारण ही उसके सामने प्रतिवादियों की तरफ से तरह-तरह के प्रश्न होने लगे कि अगर जैन सर्वथा हिंसा का निषेध करते हैं तो वे खुद भी न जीवित रह सकते हैं और न धर्माचरण ही ही कर सकते हैं। इन प्रश्नों का जवाब देने की दृष्टि से ही हरिभद्र ने जैन समत अहिंसास्वरूप समझाने के लिए चार प्रकार के वाक्यार्थ बोध के उदाहरण रूप से सर्वप्रथम अहिंसा के प्रश्न को ही हाथ में लिया है।

दूसरा प्रश्न निर्ग्रन्थत्व का है। जैन परंपरा में ग्रन्थ—वस्त्रादि परिग्रह रखने न रखने के बारे में दलभेद हो गया था। हरिभद्र के सामने यह प्रश्न खासकर दिगम्बरत्वपक्षपातियों की तरफ से ही उपस्थित हुआ जान पड़ता है। हरिभद्र ने जो दान का प्रश्न उठाया है वह करीब-करीब आधुनिक तेरापंथी संप्रदाय की विचारसरणी का प्रतिबिम्ब है। यद्यपि उस समय तेरापंथ या वैसा ही दूसरा कोई स्पष्ट पंथ न था; फिर भी जैन परंपरा की निवृत्ति प्रधान भावना में से उस समय भी दान देने के विरुद्ध किसी-किसी को विचार आ जाना स्वाभाविक था जिसका जवाब हरिभद्र ने दिया है। जैनसंमत तप का विरोध बौद्ध परंपरा पहले से ही करती आई है[1]। उसी का जवाब हरिभद्र ने दिया है। इस तरह जैन धर्म के प्राणभूत सिद्धान्तों का स्वरूप उन्होंने उपदेशपद में चार प्रकार के वाक्यार्थबोध का निरूपण करने के प्रसंग में स्पष्ट किया है जो याज्ञिक विद्वानों

१ देखो, मज्झिमनिकाय सुत्त० १४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की अपनी हिंसा-अहिंसा विषयक मीमांसा का जैन दृष्टि के अनुसार संशोधित मार्ग है।

भिन्न-भिन्न समय के अनेक ऋषियों के द्वारा सर्वभूतदया का सिद्धान्त तो आर्यवर्ग में बहुत पहले ही स्थापित हो चुका था; जिसका प्रतिघोष है—'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'—यह श्रुतिकल्प वाक्य। यज्ञ आदि धर्मों में प्राणिवध का समर्थन करनेवाले मीमांसक भी उस अहिंसाप्रतिपादक प्रतिघोष को पूर्णतया प्रमाण रूप से मानते आए हैं। अतएव उनके सामने भी अहिंसा के क्षेत्र में यह प्रश्न तो अपने आप ही उपस्थित हो जाता था। तथा सांख्य आदि अन्य वैदिक परंपराओं के द्वारा भी वैसा प्रश्न उपस्थित हो जाता था कि जब हिंसा को निषिद्ध अतएव अनिष्टजननी तुम मीमांसक भी मानते हो तब यज्ञ आदि प्रसंगों में, की जानेवाली हिंसा भी, हिंसा होने के कारण अनिष्टजनक क्यों नहीं? और जब हिंसा के नाते यज्ञीय हिंसा भी अनिष्टजनक सिद्ध होती है तब उसे धर्म का—इष्ट का निमित्त मानकर यज्ञ आदि कर्मों में कैसे कर्तव्य माना जा सकता है? इस प्रश्न का जवाब बिना दिए व्यवहार तथा शास्त्र में काम चल ही नहीं सकता था। अतएव पुराने समय से याज्ञिक विद्वान् अहिंसा को पूर्णरूपेण धर्म मानते हुए भी, बहुजनस्वीकृत और चिरप्रचलित यज्ञ आदि कर्मों में होनेवाली हिंसा का धर्म—कर्तव्य रूप से समर्थन, अनिवार्य अपवाद के नाम पर करते आ रहे थे। मीमांसकों की अहिंसा-हिंसा के उत्सर्ग-अपवादभाववाली चर्चा के प्रकार तथा उसका इतिहास हमें आज भी कुमारिल तथा प्रभाकर के ग्रन्थों में विस्पष्ट और मनोरंजन रूप से देखने को मिलता है। इस बुद्धिपूर्ण चर्चा के द्वारा मीमांसकों ने सांख्य, जैन, बौद्ध आदि के सामने यह स्थापित करने का प्रयत्न किया है कि शास्त्र विहित कर्म में की जानेवाली हिंसा अवश्य कर्तव्य होने से अनिष्ट—अधर्म का निमित्त नहीं हो सकती। मीमांसकों का अन्तिम तात्पर्य यही है कि शास्त्र—वेद ही मुख्य प्रमाण है और यज्ञ आदि कर्म वेदविहित हैं। अतएव जो यज्ञ आदि कर्म को करना चाहे या जो वेद को मानता है उसके वास्ते वेदाज्ञा का पालन ही परम धर्म है, चाहे उसके पालन में जो कुछ करना पड़े। मीमांसकों का यह तात्पर्यनिर्णय आज भी वैदिक परंपरा में एक ठोस सिद्धांत है। सांख्य आदि जैसे यज्ञीय हिंसा के विरोधी भी वेद का प्रामाण्य सर्वथा न त्याग देने के कारण अन्त में मीमांसकों के उक्त तात्पर्यार्थ निर्णय का आत्यंतिक विरोध कर न सके। ऐसा विरोध आखिर तक वे ही करते रहे जिन्होंने वेद के प्रामाण्य का सर्वथा इन्कार कर दिया। ऐसे विरोधियों में जैन परंपरा मुख्य है। जैन परंपरा ने वेद के प्रामाण्य के साथ वेदविहित हिंसा की धर्म्यता का भी सर्वतोभावेन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निषेध किया। पर जैन परंपरा का भी अपना एक उद्देश्य है जिसकी सिद्धि के वास्ते उसके अनुयायी गृहस्थ और साधु का जीवन आवश्यक है। इसी जीवनधारण में से जैन परंपरा के सामने भी ऐसे अनेक प्रश्न समय-समय पर आते रहे जिनका अहिंसा के आत्यंतिक सिद्धांत के साथ समन्वय करना उसे प्राप्त हो जाता था। जैन परंपरा वेद के स्थान में अपने आगमों को ही एक मात्र प्रमाण मानती आई है; और अपने उद्देश्य की सिद्धि के वास्ते स्थापित तथा प्रचारित विविध प्रकार के गृहस्थ और साधु जीवनोपयोगी कर्तव्यों का पालन भी करती आई है। अतएव अन्त में उसके वास्ते भी उन स्वीकृत कर्तव्यों में अनिवार्य रूप से हो जानेवाली हिंसा का समर्थन भी एक मात्र आगम की आज्ञा के पालन रूप से ही करना प्राप्त है। जैन आचार्य इसी दृष्टि से अपने आपवादिक हिंसा मार्ग का समर्थन करते रहे।

आचार्य हरिभद्र ने चार प्रकार के वाक्यार्थ बोध को दर्शाते समय अहिंसा-हिंसा के उत्सर्ग-अपवादभाव का जो सूक्ष्म विवेचन किया है वह अपने पूर्वाचार्यों की परंपराप्राप्त संपत्ति तो है ही पर उसमें उनके समय तक की विकसित मीमांसाशैली का भी कुछ न कुछ असर है। इस तरह एक तरफ से चार वाक्यार्थबोध के बहाने उन्होंने उपदेशपद में मीमांसा की विकसित शैली का, जैन दृष्टि के अनुसार संग्रह किया; तब दूसरी तरफ से उन्होंने बौद्ध परिभाषा को भी 'षोडशक'[1] में अपनाने का सर्वप्रथम प्रयत्न किया। धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक' के पहले से भी बौद्ध परंपरा में विचार विकास की क्रम प्राप्त तीन भूमिकाओं को दर्शानेवाले श्रुतमय, चिंतामय और भावनामय ऐसे तीन शब्द बौद्ध वाङ्मय में प्रसिद्ध रहे। हम जहाँ तक जान पाए हैं कह सकते हैं कि आचार्य हरिभद्र ने ही उन तीन बौद्धप्रसिद्ध शब्दों को लेकर उनकी व्याख्या में वाक्यार्थबोध के प्रकारों को समाने का सर्वप्रथम प्रयत्न किया। उन्होंने षोडशक में परिभाषाएँ तो बौद्धों की लीं पर उन की व्याख्या अपनी दृष्टि के अनुसार की; और श्रुतमय को वाक्यार्थ ज्ञानरूप से, चिंतामय को महावाक्यार्थ ज्ञानरूप से और भावनामय को ऐदम्पर्यार्थ ज्ञानरूप से घटाया। स्वामी विद्यानन्द ने उन्हीं बौद्ध परिभाषाओं का 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' में खंडन[2] किया, जब कि हरिभद्र ने उन परिभाषाओं को अपने ढंग से जैन वाङ्मय में अपना लिया।

उपाध्यायजी ने ज्ञानबिन्दु में हरिभद्रवर्णित चार प्रकार का वाक्यार्थबोध,

---

१ षोडशक १. १०।

२ देखो, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० २१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसका पुराना इतिहास, निर्युक्ति के अनुगम में तथा पुरानी वैदिक परंपरा आदि में भी मिलता है; उस पर अपनी पैनी नैयायिक दृष्टि से बहुत ही मार्मिक प्रकाश डाला है, और स्थापित किया है कि ये सब वाक्यार्थ बोध एक दीर्घ श्रुतोयोग रूप हैं जो मति उपयोग से जुदा है। उपाध्यायजी ने ज्ञानबिन्दु में जो वाक्यार्थ विचार संक्षेप में दरसाया है वही उन्होंने अपनी 'उपदेश रहस्य' नामक दूसरी कृति में विस्तार से किन्तु 'उपदेशपद' के साररूप से निरूपित किया है जो ज्ञानबिन्दु के संस्कृत टिप्पण में उद्धृत किया गया है। (देखो ज्ञानबिन्दु, टिप्पण, पृ० ७४. पं० २७ से)।

(४) अहिंसा का स्वरूप और विकास

[२१] उपाध्यायजी ने चतुर्विध वाक्यार्थ का विचार करते समय ज्ञानबिन्दु में जैन परंपरा के एक मात्र और परम सिद्धान्त अहिंसा को लेकर, उत्सर्ग-अपवादभाव की जो जैन शास्त्रों में परापूर्व से चली आनेवाली चर्चा की है और जिसके उपपादन में उन्होंने अपने न्याय-मीमांसा आदि दर्शनान्तर के गंभीर अभ्यास का उपयोग किया है, उसको यथासंभव विशेष समझाने के लिए, ज्ञानबिन्दु टिप्पण में [पृ० ७६ पं० ११ से] जो विस्तृत अवतरणसंग्रह किया है उसके आधार पर, यहाँ अहिंसा संबंधी कुछ ऐतिहासिक तथा तात्त्विक मुद्दों पर प्रकाश डाला जाता है।

अहिंसा का सिद्धांत आर्य परंपरा में बहुत ही प्राचीन है। और उसका आदर सभी आर्यशाखाओं में एक-सा रहा है। फिर भी प्रजाजीवन के विस्तार के साथ-साथ तथा विभिन्न धार्मिक परंपराओं के विकास के साथ-साथ, उस सिद्धांत के विचार तथा व्यवहार में भी अनेकमुखी विकास हुआ देखा जाता है। अहिंसा विषयक विचार के मुख्य दो स्रोत प्राचीन काल से ही आर्य परंपरा में बहने लगे ऐसा जान पड़ता है। एक स्रोत तो मुख्यतया श्रमण जीवन के आश्रय से बहने लगा, जब कि दूसरा स्रोत ब्राह्मण परंपरा—चतुर्विध आश्रम—के जीवन-विचार के सहारे प्रवाहित हुआ। अहिंसा के तात्त्विक विचार में उक्त दोनों स्रोतों में कोई मतभेद देखा नहीं जाता। पर उसके व्यावहारिक पहलू या जीवनगत उपयोग के बारे में उक्त दो स्रोतों में ही नहीं बल्कि प्रत्येक श्रमण एवं ब्राह्मण स्रोत की छोटी-बड़ी अवान्तर शाखाओं में भी, नाना प्रकार के मतभेद तथा आपसी विरोध देखे जाते हैं। तात्त्विक रूप से अहिंसा सब को एक-सी मान्य होने पर भी उस के व्यावहारिक उपयोग में तथा तदनुसारी व्याख्याओं में जो मतभेद और विरोध देखा जाता है उसका प्रधान कारण जीवनदृष्टि का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भेद है। श्रमण परंपरा की जीवनदृष्टि प्रधानतया वैयक्तिक और आध्यात्मिक रही है, जब कि ब्राह्मण परंपरा की जीवनदृष्टि प्रधानतया सामाजिक या लोकसंग्राहक रही है। पहली में लोकसंग्रह तभी तक इष्ट है जब तक वह आध्यात्मिकता का विरोधी न हो। जहाँ उसका आध्यात्मिकता से विरोध दिखाई दिया वहाँ पहली दृष्टि लोकसंग्रह की ओर उदासीन रहेगी या उसका विरोध करेगी। जब कि दूसरी दृष्टि में लोकसंग्रह इतने विशाल पैमाने पर किया गया है कि जिससे उसमें आध्यात्मिकता और भौतिकता परस्पर टकराने नहीं पाती।

श्रमण परंपरा की अहिंसा संबंधी विचारधारा का एक प्रवाह अपने विशिष्ट रूप से बहता था जो कालक्रम से आगे जाकर दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर के जीवन में उदात्त रूप में व्यक्त हुआ। हम उस प्रकटीकरण को 'आचाराङ्ग', 'सूत्रकृताङ्ग' आदि प्राचीन जैन आगमों में स्पष्ट देखते हैं। अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा तो आत्मौपम्य की दृष्टि में से ही हुई थी। पर उक्त आगमों में उसका निरूपण और विश्लेषण इस प्रकार हुआ है—

१. दुःख और भय का कारण होने से हिंसामात्र वर्ज्य है, यह अहिंसा सिद्धान्त की उपपत्ति।

२. हिंसा का अर्थ यद्यपि प्राणनाश करना या दुःख देना है तथापि हिंसा-जन्य दोष का आधार तो मात्र प्रमाद अर्थात् रागद्वेषादि ही है। अगर प्रमाद या आसक्ति न हो तो केवल प्राणनाश हिंसा कोटि में आ नहीं सकता, यह अहिंसा का विश्लेषण।

३. वध्यजीवों का कद, उनकी संख्या तथा उनकी इन्द्रिय आदि संपत्ति के तारतम्य के ऊपर हिंसा के दोष का तारतम्य अवलंबित नहीं है; किन्तु हिंसक के परिणाम या वृत्ति की तीव्रता-मंदता, सज्ञानता-अज्ञानता या बल प्रयोग की न्यूनाधिकता के ऊपर अवलंबित है, ऐसा कोटिक्रम।

उपर्युक्ति तीनों बातें भगवान् महावीर के विचार तथा आचार में से फलित होकर आगमों में ग्रथित हुई हैं। कोई एक व्यक्ति या व्यक्तिसमूह कैसा ही आध्यात्मिक क्यों न हो पर वह संयमलक्षी जीवनधारण का भी प्रश्न सोचता है तब उसमें से उपर्युक्त विश्लेषण तथा कोटिक्रम अपने आप ही फलित हो जाता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो कहना पड़ता है कि आगे के जैन वाङ्मय में अहिंसा के संबंध में जो विशेष ऊहापोह हुआ है उसका मूल आधार तो प्राचीन आगमों में प्रथम से ही रहा।

समूचे जैन वाङ्मय में पाए जानेवाले अहिंसा के ऊहापोह पर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तब हमें स्पष्ट दिखाई देता है कि जैन वाङ्मय का अहिंसा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संबंधी ऊहापोह मुख्यतया चार बलों पर अवलंबित है। पहला तो यह कि वह प्रधानतया साधु जीवन का ही अतएव नवकोटिक-पूर्ण अहिंसा का ही विचार करता है। दूसरा यह कि वह ब्राह्मण परंपरा में विहित मानी जानेवाली और प्रतिष्ठित समझी जानेवाली यज्ञीय आदि अनेकविध हिंसाओं का विरोध करता है। तीसरा यह कि वह अन्य श्रमण परंपराओं के त्यागी जीवन की अपेक्षा भी जैन श्रमण का त्यागी जीवन विशेष नियंत्रित रखने का आग्रह रखता है। चौथा यह कि वह जैन परंपरा के ही अवान्तर फिरकों में उत्पन्न होनेवाले पारस्परिक विरोध के प्रश्नों के निराकरण का भी प्रयत्न करता है।

नवकोटिक-पूर्ण अहिंसा के पालन का आग्रह भी रखना और संयम या सद्गुणविकास की दृष्टि से जीवननिर्वाह का समर्थन भी करना—इस विरोध में से हिंसा के द्रव्य, भाव आदि भेदों का ऊहापोह फलित हुआ और अन्त में एक मात्र निश्चय सिद्धान्त यही स्थापित हुआ कि आखिर को प्रमाद ही हिंसा है। अप्रत्त जीवनव्यवहार देखने में हिंसात्मक हो तब भी वह वस्तुतः अहिंसक ही है। जहाँ तक इस आखरी नतीजे का संबंध है वहाँ तक श्वेताम्बर-दिगम्बर आदि किसी भी जैन फिरके का इसमें थोड़ा भी मतभेद नहीं है। सब फिरकों की विचार-सरणी-परिभाषा और दलीलें एक-सी हैं। यह हम ज्ञानबिन्दु के टिप्पण गत श्वेताम्बरीय विस्तृत अवतरणों से भली-भांति जान सकते हैं।

वैदिक परंपरा में यज्ञ, अतिथि श्राद्ध आदि अनेक निमित्तों से होने वाली जो हिंसा धार्मिक मानकर प्रतिष्ठित करार दी जाती थी उसका विरोध सांख्य, बौद्ध और जैन परंपरा ने एक सा किया है फिर भी आगे जाकर इस विरोध में मुख्य भाग बौद्ध और जैन का ही रहा है। जैन वाङ्मयगत अहिंसा के ऊहापोह में उक्त विरोध की गहरी छाप और प्रतिक्रिया भी है। पद-पद पर जैन साहित्य में वैदिक हिंसा का खण्डन देखा जाता है। साथ ही जब वैदिक लोग जैनों के प्रति यह आशंका करते हैं कि अगर धार्मिक हिंसा भी अकर्तव्य है तो तुम जैन लोग अपनी समाज रचना में मन्दिरनिर्माण, देवपूजा आदि धार्मिक कृत्यों का समावेश अहिंसक रूप से कैसे कर सकोगे इत्यादि। इस प्रश्न का खुलासा भी जैन वाङ्मय के अहिंसा संबंधी ऊहापोह में सविस्तर पाया जाता है।

प्रमाद—मानसिक दोष ही मुख्यतया हिंसा है और उस दोष में से जनित ही प्राण-नाश हिंसा है। यह विचार जैन और बौद्ध परंपरा में एक-सा मान्य है। फिर भी हम देखते हैं कि पुराकाल से जैन और बौद्ध परंपरा के बीच अहिंसा के संबंध में पारस्परिक खण्डन-मण्डन बहुत हुआ है। 'सूत्रकृताङ्ग' जैसे प्राचीन आगम में भी अहिंसा संबंधी बौद्ध मन्तव्य का खंडन है। इसी तरह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'मज्झिमनिकाय' जैसे पिटक ग्रंथों में भी जैन संमत अहिंसा का सपरिहास खण्डन पाया जाता है। उत्तरवर्ती निर्युक्ति आदि जैन ग्रंथों में तथा 'अभिधर्मकोष' आदि बौद्ध ग्रंथों में भी वही पुराना खण्डन-मण्डन नए रूप में देखा जाता है। जब जैन–बौद्ध दोनों परंपराएँ वैदिक हिंसा की एक-सी विरोधिनी हैं और जब दोनों की अहिंसा संबंधी व्याख्या में कोई तात्त्विक मतभेद नहीं तब पहले से ही दोनों में पारस्परिक खण्डन-मण्डन क्यों शुरू हुआ और चल पड़ा—यह एक प्रश्न है। इसका जवाब जब हम दोनों परंपराओं के साहित्य को ध्यान से पढ़ते हैं, तब मिल जाता है। खण्डन-मण्डन के अनेक कारणों में से प्रधान कारण तो यही है कि जैन परंपरा ने नवकोटिक अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्या को अमल में लाने के लिए जो बाह्य प्रवृत्ति को विशेष नियंत्रित किया वह बौद्ध परंपरा ने नहीं किया। जीवन-संबंधी बाह्य प्रवृत्तियों के अति नियत्रण और मध्यम-मार्गीय शैथिल्य के प्रबल भेद में से ही बौद्ध और जैन परंपराएँ आपस में खण्डन-मण्डन में प्रवृत्त हुईं। इस खण्डन-मण्डन का भी जैन वाङ्मय के अहिंसा संबंधी ऊहापोह में खासा हिस्सा है जिसका कुछ नमूना ज्ञानबिन्दु के टिप्पणों में दिए हुए जैन और बौद्ध अवतरणों से जाना जा सकता है। जब हम दोनों परंपराओं के खण्डन-मण्डन को तटस्थ भाव से देखते हैं तब निःसंकोच कहना पड़ता है कि बहुधा दोनों ने एक दूसरे को गलत रूप से ही समझा है। इसका एक उदाहरण 'मज्झिमनिकाय' का उपालिसुत्त और दूसरा नमूना सूत्रकृताङ्ग (१. १. २. २४–३२; २. ६. २६–२८) का है।

जैसे-जैसे जैन साधुसंघ का विस्तार होता गया और जुदे-जुदे देश तथा काल में नई-नई परिस्थिति के कारण नए-नए प्रश्न उत्पन्न होते गए वैसे-वैसे जैन तत्त्वचिन्तकों ने अहिंसा की व्याख्या और विश्लेषण में से एक स्पष्ट नया विचार प्रकट किया। वह यह कि अगर अप्रमत्त भाव से कोई जीवविराधना—हिंसा हो जाए या करनी पड़े तो वह मात्र अहिंसाकोटि की अतएव निर्दोष ही नहीं है बल्कि वह गुण (निर्जरा) वर्धक भी है। इस विचार के अनुसार, साधु पूर्ण अहिंसा का स्वीकार कर लेने के बाद भी, अगर संयत जीवन की पुष्टि के निमित्त, विविध प्रकार की हिंसारूप समझी जानेवाली प्रवृत्तियाँ करता है तो वह संयमविकास में एक कदम आगे बढ़ता है। यही जैन परिभाषा के अनुसार निश्चय अहिंसा है। जो त्यागी बिलकुल वस्त्र आदि रखने के विरोधी थे वे मर्यादित रूप में वस्त्र आदि उपकरण (साधन) रखनेवाले साधुओं को जब हिंसा के नाम पर कोसने लगे तब वस्त्रादि के समर्थक त्यागियों ने उसी निश्चय सिद्धान्त का आश्रय लेकर जवाब दिया कि केवल संयम के धारण और निर्वाह के वास्ते ही, शरीर की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरह मर्यादित उपकरण आदि का रखना अहिंसा का बाधक नहीं। जैन साधुसंघ की इस प्रकार की पारस्परिक आचारभेदमूलक चर्चा के द्वारा भी अहिंसा के ऊहापोह में बहुत कुछ विकास देखा जाता है, जो ओघनिर्युक्ति आदि में स्पष्ट है। कभी-कभी अहिंसा की चर्चा शुष्क तर्क की-सी हुई जान पड़ती है। एक व्यक्ति प्रश्न करता है कि अगर वस्त्र रखना ही है तो वह बिना फाड़े अखण्ड ही क्यों न रखा जाए; क्योंकि उसके फाड़ने में जो सूक्ष्म अणु उड़ेंगे वे जीव-घातक जरूर होंगे। इस प्रश्न का जवाब भी उसी ढंग से दिया गया है। जवाब देनेवाला कहता है, कि अगर वस्त्र फाड़ने से फैलनेवाले सूक्ष्म अणुओं के द्वारा जीवघात होता है; तो तुम जो हमें वस्त्र फाड़ने से रोकने के लिए कुछ कहते हो उसमें भी तो जीवघात होता है न?—इत्यादि। अस्तु। जो कुछ हो, पर हम जिनभद्रगणि की स्पष्ट वाणी में जैनपरंपरासंमत अहिंसा का पूर्ण स्वरूप पाते हैं। वे कहते हैं कि स्थान सजीव हो या निर्जीव, उसमें कोई जीव घातक हो जाता हो या कोई अघातक ही देखा जाता हो, पर इतने मात्र से हिंसा या अहिंसा का निर्णय नहीं हो सकता। हिंसा सचमुच प्रमाद—अयतना—असंयम में ही है फिर चाहे किसी जीव का घात न भी होता हो। इसी तरह अगर अप्रमाद या यतना—संयम सुरक्षित है तो जीवघात दिखाई देने पर भी वस्तुतः अहिंसा ही है।

उपर्युक्त विवेचन से अहिंसा संबंधी जैन ऊहापोह की नीचे लिखी क्रमिक भूमिकाएँ फलित होती हैं।

(१) प्राण का नाश हिंसारूप होने से उसको रोकना ही अहिंसा है।

(२) जीवन धारण की समस्या में से फलित हुआ कि जीवन-खासकर संयमी जीवन के लिए अनिवार्य समझी जानेवाली प्रवृत्तियाँ करते रहने पर अगर जीवघात हो भी जाए तो भी यदि प्रमाद नहीं है तो वह जीवघात हिंसारूप न होकर अहिंसा ही है।

(३) अगर पूर्णरूपेण अहिंसक रहना हो तो वस्तुतः और सर्वप्रथम चित्तगत क्लेश (प्रमाद) का ही त्याग करना चाहिए। यह हुआ तो अहिंसा सिद्ध हुई। अहिंसा का बाह्य प्रवृत्तियों के साथ कोई नियत संबंध नहीं है। उसका नियत संबंध मानसिक प्रवृत्तियों के साथ है।

(४) वैयक्तिक या सामूहिक जीवन में ऐसे भी अपवाद स्थान आते हैं जब कि हिंसा मात्र अहिंसा ही नहीं रहती प्रत्युत वह गुणवर्धक भी बन जाती है। ऐसे आपवादिक स्थानों में अगर कही जानेवाली हिंसा से डरकर उसे आचरण में न लाया जाए तो उलटा दोष लगता है।

ऊपर हिंसा-अहिंसा संबंधी जो विचार संक्षेप में बतलाया है उसकी पूरी-पूरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्रीय सामग्री उपाध्यायजी को प्राप्त थी अतएव उन्होंने 'वाक्यार्थ विचार' प्रसंग में जैनसम्मत—खासकर साधुजीवनसम्मत—अहिंसा को लेकर उत्सर्ग-अपवाद-भाव की चर्चा की है। उपाध्यायजी ने जैनशास्त्र में पाए जानेवाले अपवादों का निर्देश करके स्पष्ट कहा है कि ये अपवाद देखने में कैसे ही क्यों न अहिंसा-विरोधी हों, फिर भी उनका मूल्य औत्सर्गिक अहिंसा के बराबर ही है। अपवाद अनेक बतलाए गए हैं, और देश-काल के अनुसार नए अपवादों की भी सृष्टि हो सकती है; फिर भी सब अपवादों की आत्मा मुख्यतया दो तत्त्वों में समा जाती है। उनमें एक तो है गीतार्थत्व यानि परिणतशास्त्रज्ञान का और दूसरा है कृतयोगित्व अर्थात् चित्तसाम्य या स्थितप्रज्ञत्व का।

उपाध्यायजी के द्वारा बतलाई गई जैन अहिंसा के उत्सर्ग-अपवाद की यह चर्चा, ठीक अक्षरशः मीमांसा और स्मृति के अहिंसा संबंधी उत्सर्ग-अपवाद की विचारसरणि से मिलती है। अन्तर है तो यही कि जहाँ जैन विचारसरणि साधु या पूर्णत्यागीके जीवन को लक्ष्य में रखकर प्रतिष्ठित हुई है वहाँ मीमांसक और स्मार्तों की विचारसरणि गृहस्थ, त्यागी सभी के जीवन को केन्द्र स्थान में रखकर प्रचलित हुई है। दोनों का साम्य इस प्रकार है—

१ जैन	२ वैदिक
१ सव्वे पाणा न हंतव्वा	१ मा हिंस्यात् सर्वभूतानि
२ साधुजीवन की अशक्यता का प्रश्न	२ चारों आश्रम के सभी प्रकार के अधिकारियों के जीवन की तथा तत्संबंधी कर्तव्यों की अशक्यता का प्रश्न
३ शास्त्रविहित प्रवृत्तियों में हिंसा दोष का अभाव अर्थात् निषिद्धाचरण ही हिंसा	३ शास्त्रविहित प्रवृत्तियों में हिंसा-दोष का अभाव अर्थात् निषिद्धाचार ही हिंसा है

यहाँ यह ध्यान रहे कि जैन तत्त्वज्ञ 'शास्त्र' शब्द से जैन शास्त्र को—खासकर साधु-जीवन के विधि-निषेध प्रतिपादक शास्त्र को ही लेता है; जब कि वैदिक तत्त्वचिन्तक, शास्त्र शब्द से उन सभी शास्त्रों को लेता है जिनमें वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, धार्मिक और राजकीय आदि सभी कर्तव्यों का विधान है।

४ अन्ततोगत्वा अहिंसा का मर्म जिनाज्ञा के—जैन शास्त्र के यथावत् अनुसरण में ही है।	४ अनन्तोगत्वा अहिंसा का तात्पर्य वेद तथा स्मृतियों की आज्ञा के पालन में ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपाध्यायजी ने उपर्युक्त चार भूमिकावाली अहिंसा का चतुर्विध वाक्यार्थ के द्वारा निरूपण करके उसके उपसंहार में जो कुछ लिखा है वह वेदानुयायी मीमांसक और नैयायिक की अहिंसाविषयक विचारसरणि के साथ एक तरह की जैन विचारसरणि की तुलना मात्र है। अथवा यों कहना चाहिए कि वैदिक विचारसरणि के द्वारा जैन विचारसरणि का विश्लेषण ही उन्होंने किया है। जैसे मीमांसकों ने वेदविहित हिंसा को छोड़कर ही हिंसा में अनिष्टजनकत्व माना है वैसे ही उपाध्यायजी ने अन्त में स्वरूप हिंसा को छोड़ कर ही मात्र हेतु—आत्मपरिणाम हिंसा में ही अनिष्टजनकत्व बतलाया है।

(५) षट्स्थानपतितत्व और पूर्वगत गाथा

[२७] श्रुतचर्चा के प्रसंग में अहिंसा के उत्सर्ग-अपवाद की विचारणा करने के बाद उपाध्यायजी ने श्रुत से संबंध रखनेवाले अनेक ज्ञातव्य मुद्दों पर विचार प्रकट करते हुए षट्स्थान[1] के मुद्दे की भी शास्त्रीय चर्चा की है जिसका समर्थन हमारे जीवनगत अनुभव से ही होता रहता है।

एक ही अध्यापक से एक ग्रंथ ही पढ़नेवाले अनेक व्यक्तियों में, शब्द एवं अर्थ का ज्ञान समान होने पर भी उसके भावों व रहस्यों के परिज्ञान का जो तारतम्य देखा जाता है वह उन अधिकारियों की आन्तरिक शक्ति के तारतम्य का ही परिणाम होता है। इस अनुभव को चतुर्दश पूर्वधरों में लागू करके 'कल्पभाष्य' के आधार पर उपाध्यायजी ने बतलाया है कि चतुर्दशपूर्वरूप श्रुत को समान रूप से पढ़े हुए अनेक व्यक्तियों में भी श्रुतगत भावों के सोचने की शक्ति का अनेकविध तारतम्य होता है जो उनकी ऊहापोह शक्ति के तारतम्य का ही परिणाम है। इस तारतम्य को शास्त्रकारों ने छह विभागों में बाँटा है जो षट्स्थान कहलाते हैं। भावों को जो सबसे अधिक जान सकता है वह श्रुतधर उत्कृष्ट कहलाता है। उसकी अपेक्षा से हीन, हीनतर, हीनतम रूप से छह कक्षाओं का वर्णन है। उत्कृष्ट ज्ञाता की अपेक्षा—१ अनन्तभागहीन, २ असंख्यातभागहीन, ३ संख्यातभागहीन, ४ संख्यातगुणहीन, ५ असंख्यातगुणहीन और ६ अनन्तगुणहीन—ये क्रमशः उतरती हुई छह कक्षाएँ हैं। इसी तरह सब से न्यून भावों को जाननेवाले की अपेक्षा—१ अनन्तभागअधिक, २ असंख्यातभागअधिक, ३ संख्यातभागअधिक, ४ संख्यातगुणअधिक, ५ असंख्यातगुणअधिक और ६ अनन्तगुणअधिक—ये क्रमशः चढ़ती हुई कक्षाएँ हैं।

---

१ देखो, ज्ञानबिन्दु, टिप्पण पृ० ६६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुत की समानता होने पर भी उसके भावों के परिज्ञानगत तारतम्य का कारण जो ऊहापोहसामर्थ्य है उसे उपाध्यायजी ने श्रुतसामर्थ्य और मतिसामर्थ्य उभयरूप कहा है–फिर भी उनका विशेष झुकाव उसे श्रुतसामर्थ्य मानने की ओर स्पष्ट है।

आगे श्रुत के दीर्घोपयोग विषयक समर्थन में उपध्यायजी ने एक पूर्वगत गाथा का [ज्ञानबिन्दु पृ० ६.] उल्लेख किया है, जो 'विशेषावश्यकभाष्य' [गा० ११७] में पाई जाती है। पूर्वगत शब्द का अर्थ है पूर्व–प्राक्तन। उस गाथा को पूर्वगाथा रूप से मानते आने की परंपरा जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण जितनी तो पुरानी अवश्य जान पड़ती है; क्योंकि कोट्याचार्य ने भी अपनी वृत्ति में उसका पूर्वगतगाथा रूप से ही व्याख्यान किया है। पर यहाँ पर यह बात जरूर लक्ष्य खींचती है कि पूर्वगत मानी जानेवाली वह गाथा दिगम्बरीय ग्रंथों में कहीं नहीं पाई जाती और पाँच ज्ञानों का वर्णन करनेवाली 'आवश्यकनिर्युक्ति' में भी वह गाथा नहीं है।

हम पहले कह आए हैं कि अक्षर-अनक्षर रूप से श्रुत के दो भेद बहुत पुराने हैं और दिगम्बरीय-श्वेताम्बरीय दोनों परंपराओं में पाए जाते हैं। पर अनक्षर श्रुत की दोनों परंपरागत व्याख्या एक नहीं है। दिगम्बर परंपरा में अनक्षरश्रुत शब्द का अर्थ सबसे पहले अकलंक ने ही स्पष्ट किया है। उन्होंने स्वार्थश्रुत को अनक्षरश्रुत बतलाया है। जब कि श्वेताम्बरीय परंपरा में निर्युक्ति के समय से ही अनक्षरश्रुत का दूसरा अर्थ प्रसिद्ध है। निर्युक्ति में अनक्षरश्रुत रूप से उच्छ्वसित, निःश्वसित आदि ही श्रुत लिया गया है। इसी तरह अक्षरश्रुत के अर्थ में भी दोनों परंपराओं का मतभेद है। अकलंक परार्थ वचनात्मक श्रुत को ही अक्षरश्रुत कहते हैं जो कि केवल द्रव्यश्रुत रूप है। तब, उस पूर्वगत गाथा के व्याख्यान में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण त्रिविध अक्षर बतलाते हुए अक्षरश्रुत को द्रव्य-भाव रूप से दो प्रकार का बतलाते हैं। द्रव्य और भाव रूप से श्रुत के दो प्रकार मानने की जैन परंपरा तो पुरानी है और श्वेताम्बर-दिगम्बर शास्त्रों में एक सी ही है पर अक्षरश्रुत के व्याख्यान में दोनों परंपराओं का अन्तर हो गया है। एक परंपरा के अनुसार द्रव्यश्रुत ही अक्षरश्रुत है जब कि दूसरी परंपरा के अनुसार द्रव्य और भाव दोनों प्रकार का अक्षरश्रुत है। द्रव्यश्रुत शब्द जैन वाङ्मय में पुराना है पर उसके व्यञ्जनाक्षर–संज्ञाक्षर नाम से पाए जानेवाले दो प्रकार दिगम्बर शास्त्रों में नहीं है।

द्रव्यश्रुत और भावश्रुत रूप से शास्त्रज्ञान संबंधी जो विचार जैन परंपरा में पाया जाता है। और जिसका विशेष रूप से स्पष्टीकरण उपाध्यायजी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने पूर्वगत गाथा का व्याख्यान करते हुए किया है, वह सारा विचार, आगम (श्रुति) प्रामाण्यवादी नैयायिकादि सभी वैदिक दर्शनों की परंपरा में एक-सा है और अति विस्तृत पाया जाता है। इसकी शाब्दिक तुलना नीचे लिखे अनुसार है—

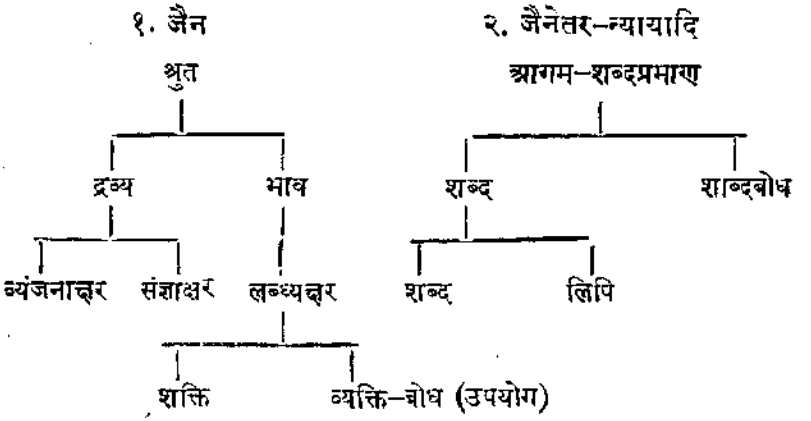

पदार्थोपस्थिति, संकेतज्ञान, आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति, तात्पर्यज्ञान आदि शाब्दबोध के कारण जो नैयायिकादि परंपरा में प्रसिद्ध हैं, उन सबको उपाध्यायजी ने शाब्दबोध-परिकर रूप से शाब्दबोध में ही समाया है। इस जगह एक ऐतिहासिक सत्य की ओर पाठकों का ध्यान खींचना जरूरी है। वह यह कि जब कभी, किसी जैन आचार्य ने, कहीं भी नया प्रमेय देखा तो उसका जैन परम्परा की परिभाषा में क्या स्थान है यह बतलाकर, एक तरह से जैन श्रुत की श्रुतान्तर से तुलना की है। उदाहरणार्थ—भर्तृहरीय 'वाक्यपदीय' में[1] वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा रूप से जो चार प्रकार की भाषाओं का बहुत ही विस्तृत और तलस्पर्शी वर्णन है, उसका जैन परम्परा की परिभाषा में किस प्रकार समावेश हो सकता है, यह स्वामी विद्यानन्द ने बहुत ही स्पष्टता और यथार्थता से सबसे पहले बतलाया[2] है, जिससे जैन जिज्ञासुओं को जैनेतर विचार का और जैनेतर जिज्ञासुओं को जैन विचार का सरलता से बोध हो सके। विद्यानन्द का वही समन्वय वादिदेवसूरि ने अपने ढंग से वर्णित किया[3] है। उपाध्यायजी ने भी, न्याय आदि दर्शनों के प्राचीन और नवीन न्यायादि ग्रंथों में, जो शाब्दबोध और आगम प्रमाण संबंधी विचार देखे और पढ़े उनका उपयोग उन्होंने ज्ञान-

१ देखो, वाक्यपदीय १.११४।

२ देखो, तत्त्वार्थ श्लो० पृ० २४०, २४१।

३ देखो, स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ६७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिंदु में जैन श्रुत की उन विचारों के साथ तुलना करने में किया है, जो अभ्यासी को खास मनन करने योग्य है।

(६) मतिज्ञान के विशेष निरूपण में नया ऊहापोह

[३४] प्रसंगप्राप्त श्रुत की कुछ बातों पर विचार करने के बाद फिर ग्रंथकार ने प्रस्तुत मतिज्ञान के विशेषों—भेदों का निरूपण शुरू किया है। जैन वाङ्मय में मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये चार भेद तथा उनका परस्पर कार्य-कारणभाव प्रसिद्ध है। आगम और तर्कयुग में उन भेदों पर बहुत कुछ विचार किया गया है। पर उपाध्यायजी ने ज्ञानबिंदु में जो उन भेदों की तथा उनके परस्पर कार्य-कारणभाव की विवेचना की है वह प्रधानतया विशेषावश्यकभाष्यानुगामिनी है[1]। इस विवेचना में उपाध्यायजी ने पूर्ववर्ती जैन साहित्य का सार तो रख ही दिया है; साथ में उन्होंने कुछ नया ऊहापोह भी अपनी ओर से किया है। यहाँ हम ऐसी तीन खास बातों का निर्देश करते हैं जिन पर उपाध्यायजी ने नया ऊहापोह किया है—

(१) प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया में दार्शनिकों का ऐकमत्य

(२) प्रामाण्यनिश्चय के उपाय का प्रश्न

(३) अनेकान्त दृष्टि से प्रामाण्य के स्वतस्त्व-परतस्त्व की व्यवस्था

(१) प्रत्यक्ष ज्ञान की[2] प्रक्रिया में शब्दभेद भले ही हो पर विचारभेद किसी का नहीं है। न्याय-वैशेषिक आदि सभी वैदिक दार्शनिक तथा बौद्ध दार्शनिक भी यही मानते हैं कि जहाँ इंद्रियजन्य और मनोजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वहाँ सबसे पहले विषय और इंद्रिय का सन्निकर्ष होता है। फिर निर्विकल्पक ज्ञान, अनन्तर सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है जो कि संस्कार द्वारा स्मृति को भी पैदा करता है। कभी-कभी सविकल्पक ज्ञान धारारूप से पुनः-पुनः हुआ करता है। प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया का यह सामान्य क्रम है। इसी प्रक्रिया को जैन तत्त्वज्ञों ने अपनी व्यञ्जनावग्रह, अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा की खास परिभाषा में बहुत पुराने समय से बतलाया है। उपाध्यायजी ने इस ज्ञानबिंदु में, परम्परागत जैन-प्रक्रिया में खास करके दो विषयों पर प्रकाश डाला है। पहला है कार्य-कारण-भाव का परिष्कार और दूसरा है दर्शनान्तरीय परिभाषा के साथ जैन परिभाषा की तुलना। अर्थावग्रह के प्रति व्यञ्जनावग्रह की, और ईहा के प्रति अर्थावग्रह

---

१ देखो, विशेषावश्यकभाष्य, गा० २९६–२९९।

२ देखो, प्रमाणमीमांसा टिप्पण, पृ० ४५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की और इसी क्रम से आगे धारणा के प्रति अवाय की कारणता का वर्णन तो जैन वाङ्मय में पुराना ही है, पर नव्यन्यायशास्त्रीय परिशीलन ने उपाध्यायजी से उस कार्य-कारणभाव का प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु में सपरिष्कार वर्णन कराया है, जो कि अन्य किसी जैन ग्रंथ में पाया नहीं जाता। न्याय आदि दर्शनों में प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया चार अंशों में विभक्त है। [३६] पहला कारणांश [पृ० १० पं० २०] जो सन्निकृष्ट इंद्रिय रूप है। दूसरा व्यापारांश [४६] जो सन्निकर्ष एवं निर्विकल्प ज्ञानरूप है। तीसरा फलांश [पृ० १५ पं० १६] जो सविकल्पक ज्ञान या निश्चयरूप है और चौथा परिपाकांश [४७] जो धारावाही ज्ञानरूप तथा संस्कार, स्मरण आदि रूप है। उपाध्यायजी ने व्यञ्जनावग्रह, अर्थावग्रह आदि पुरातन जैन परिभाषाओं को उक्त चार अंशों में विभाजित करके स्पष्ट रूप से सूचना की है कि जैनेतर दर्शनों में प्रत्यक्ष ज्ञान की जो प्रक्रिया है वही शब्दान्तर से जैनदर्शन में भी है। उपाध्यायजी व्यञ्जनावग्रह को कारणांश, अर्थावग्रह तथा ईहा को व्यापारांश, अवाय को फलांश और धारणा को परिपाकांश कहते हैं, जो बिलकुल उपयुक्त है।

बौद्ध दर्शन के महायानीय 'न्यायबिन्दु' आदि जैसे संस्कृत ग्रंथों में पाई जानेवाली, प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रियागत परिभाषा, तो न्यायदर्शन जैसी ही है; पर हीनयानीय पालि ग्रंथों की परिभाषा भिन्न है। यद्यपि पालि वाङ्मय उपाध्यायजी को सुलभ न था फिर उन्होंने जिस तुलना की सूचना की है, उस तुलना को, इस समय सुलभ पाली वाङ्मय तक विस्तृत करके, हम यहाँ सभी भारतीय दर्शनों की उक्त परिभाषागत तुलना बतलाते हैं—

१ न्यायवैशेषिकादि वैदिकदर्शन तथा महायानीय बौद्धदर्शन	२ जैन दर्शन	३ पालि अभिधर्म[1]
१ सन्निकृष्यमाण इन्द्रिय या विषयेन्द्रियसन्निकर्ष	१ व्यंजनावग्रह	१ आरम्मण का इन्द्रिय-आपाथगमन—इन्द्रिय-आलम्बनसंबंध तथा आवज्जन
२ निर्विकल्पक	२ अर्थावग्रह	२ चक्खुरादिविज्ञान
३ संशय तथा संभावना	३ ईहा	३ संपटिच्छन, संतीरण

१ The Psychological attitude of early Buddhist Philosophy : By Anagarika B. Govinda : P. 184. अभिधम्मत्थसंगहो ४.८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४ सविकल्पक निर्णय	४ अवाय	४ वोद्धपन
५ धारावाहि ज्ञान तथा संस्कार-स्मरण	५ धारणा	५ जवन तथा जवनानुबन्ध तदारम्भणपाक

(२) [३८] प्रामाण्यनिश्चय के उपाय के बारे में ऊहापोह करते समय उपाध्यायजी ने मलयगिरि सूरि के मत की खास तौर से समीक्षा की है। मलयगिरि सूरि का[1] मन्तव्य है कि अवायगत प्रामाण्य का निर्णय अवाय की पूर्ववर्तिनी ईहा से ही होता है, चाहे वह ईहा लक्षित हो या न हो। इस मत पर उपाध्यायजी ने आपत्ति उठा कर कहा है, [३९] कि अगर ईहा से ही अवाय के प्रामाण्य का निर्णय माना जाए तो वादिदेवसूरि का प्रामाण्यनिर्णयविषयक स्वतस्त्व-परतस्त्व का पृथक्करण कभी घट नहीं सकेगा। मलयगिरि के मत की समीक्षा में उपाध्यायजी ने बहुत सूक्ष्म कोटिक्रम उपस्थित किया है। उपाध्यायजी जैसा व्यक्ति, जो मलयगिरि सूरि आदि जैसे पूर्वाचार्यों के प्रति बहुत ही आदरशील एवं उनके अनुगामी हैं, वे उन पूर्वाचार्यों के मत की खुले दिल से समालोचना करके सूचित करते हैं कि विचार के शुद्धीकरण एवं सत्यगवेषणा के पथ में अविचारी अनुसरण बाधक ही होता है।

(३) [४०] उपाध्यायजी को प्रसंगवश अनेकान्त दृष्टि से प्रामाण्य के स्वतस्त्व-परतस्त्व निर्णय की व्यवस्था करनी इष्ट है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने दो एकान्तवादी पक्षकारों को चुना है जो परस्पर विरुद्ध मन्तव्य वाले हैं। मीमांसक मानता है कि प्रामाण्य की सिद्धि स्वतः ही होती है; तब नैयायिक कहता है कि प्रामाण्य की सिद्धि परतः ही होती है। उपाध्यायजी ने पहले तो मीमांसक के मुख से स्वतः प्रामाण्य का ही स्थापन कराया है; और पीछे उसका खण्डन नैयायिक के मुख से करा कर उसके द्वारा स्थापित कराया है कि प्रामाण्य की सिद्धि परतः ही होती है। मीमांसक और नैयायिक की परस्पर खण्डन-मण्डन वाली प्रस्तुत प्रामाण्यसिद्धिविषयक चर्चा प्रामाण्य के खास 'तद्वति तत्प्रकारकत्व-रूप' दार्शनिकसंमत प्रकार पर ही कराई गई है। इसके पहले उपाध्यायजी ने सैद्धान्तिकसंमत और तार्किकसंमत ऐसे अनेकविध प्रामाण्य के प्रकारों को एक-एक करके चर्चा के लिए चुना है और अन्त में बतलाया है कि ये सब प्रकार प्रस्तुत चर्चा के लिए उपयुक्त नहीं। केवल 'तद्वति तत्प्रकारकत्वरूप' उसका प्रकार ही प्रस्तुत स्वतःपरतस्त्व की सिद्धि की चर्चा के लिए उपयुक्त है। अनुपयोगी कह कर छोड़ दिए गए जिन और जितने प्रामाण्य के प्रकारों का, उपाध्यायजी ने

१ देखो, नन्दीसूत्र की टीका, पृ० ७३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विभिन्न दृष्टि से जैन शास्त्रानुसार ज्ञानबिन्दु में निदर्शन किया है, उन और उतने प्रकारों का वैसा निदर्शन किसी एक जैन ग्रन्थ में देखने में नहीं आता।

मीमांसक और नैयायिक की ज्ञानबिन्दुगत स्वतः-परतः प्रामाण्य वाली चर्चा नव्य-न्याय के परिष्कारों से जटिल बन गई है। उपाध्यायजी ने उदयन, गंगेश, रघुनाथ, पक्षधर आदि नव्य नैयायिकों के तथा मीमांसकों के ग्रंथों का जो आकंठ पान किया था उसी का उद्गार प्रस्तुत चर्चा में पथ-पथ पर हम पाते हैं। प्रामाण्य की सिद्धि स्वतः मानना या परतः मानना या उभयरूप मानना यह प्रश्न जैन परंपरा के सामने उपस्थित हुआ। तब विद्यानन्द[1] आदि ने बौद्ध[2] मत को अपना कर अनेकान्त दृष्टि से यह कह दिया कि अभ्यास दशा में प्रामाण्य की सिद्धि स्वतः होती है और अनभ्यास दशा में परतः। उसके बाद तो फिर इस मुद्दे पर अनेक जैन तार्किकों ने संक्षेप और विस्तार से अनेकमुखी चर्चा की है। पर उपाध्यायजी की चर्चा उन पूर्वाचार्यों से निराली है। इसका मुख्य कारण है उपाध्यायजी का नव्य दर्शनशास्त्रों का सर्वाङ्गीण परिशीलन। चर्चा का उपसंहार करते हुए [४२, ४३] उपाध्यायजी ने मीमांसक के पक्ष में और नैयायिक के पक्ष में आनेवाले दोषों का अनेकान्त दृष्टि से परिहार करके दोनों पक्षों के समन्वय द्वारा जैन मन्तव्य स्थापित किया है[3]।

३. अवधि और मनःपर्याय की चर्चा

मति और श्रुत ज्ञान की विचारणा पूर्ण करके ग्रन्थकार ने क्रमशः अवधि [५१, ५२] और मनःपर्याय [५३, ५४] की विचारणा की है। आर्य तत्त्व-चिंतक दो प्रकार के हुए हैं, जो भौतिक-लौकिक भूमिका वाले थे उन्होंने भौतिक साधन अर्थात् इन्द्रिय-मन के द्वारा ही उत्पन्न होने वाले अनुभव मात्र पर विचार किया है। वे आध्यात्मिक अनुभव से परिचित न थे। पर दूसरे ऐसे भी तत्त्व-चिन्तक हुए हैं जो आध्यात्मिक भूमिका वाले थे जिनकी भूमिका आध्यात्मिक-लोकोत्तर थी उनका अनुभव भी आध्यात्मिक रहा। आध्यात्मिक अनुभव मुख्य-तया आत्मशक्ति की जागृति पर निर्भर है। भारतीय दर्शनों की सभी प्रधान शाखाओं में ऐसे आध्यात्मिक अनुभव का वर्णन एक सा है। आध्यात्मिक अनुभव की पहुँच भौतिक जगत् के उस पार तक होती है। वैदिक, बौद्ध और जैन परंपरा के प्राचीन समझे जाने वाले ग्रंथों में, वैसे विविध आध्यात्मिक

१ देखो, प्रमाणपरीक्षा, पृ० ६३; तत्त्वार्थश्लोक०, पृ० १७५; परीक्षामुख १.१३।
२ देखो, तत्त्वसंग्रह, पृ० ८११।
३ देखो, प्रमाणमीमांसा भाषाटिप्पण, पृ० १६ पं० १८ से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुभवों का, कहीं-कहीं मिलते जुलते शब्दों में और कहीं दूसरे शब्दों में वर्णन मिलता है। जैन वाङ्मय में आध्यात्मिक अनुभव-साक्षात्कार के तीन प्रकार वर्णित हैं—अवधि, मनःपर्याय और केवल। अवधि प्रत्यक्ष वह है जो इन्द्रियों के द्वारा अगम्य ऐसे सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट मूर्त पदार्थों का साक्षात्कार कर सके। मनःपर्याय प्रत्यक्ष वह है जो मात्र मनोगत विविध अवस्थाओं का साक्षात्कार करे। इन दो प्रत्यक्षों का जैन वाङ्मय में बहुत विस्तार और भेद-प्रभेद वाला मनोरञ्जक वर्णन है।

वैदिक दर्शन के अनेक ग्रन्थों में—खास कर 'पातञ्जलयोगसूत्र' और उसके भाष्य आदि में—उपर्युक्त दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष का योगविभूतिरूप से स्पष्ट और आकर्षक वर्णन है[1]। 'वैशेषिकसूत्र' के 'प्रशस्तपादभाष्य' में भी थोड़ा-सा किन्तु स्पष्ट वर्णन है[2]। बौद्ध दर्शन के 'मज्झिमनिकाय' जैसे पुराने ग्रंथों में भी वैसे आध्यात्मिक प्रत्यक्ष का स्पष्ट वर्णन है[3]। जैन परंपरा में पाया जानेवाला 'अवधिज्ञान' शब्द तो जैनेतर परंपराओं में देखा नहीं जाता पर जैन परंपरा का 'मनःपर्याय' शब्द तो 'परचित्तज्ञान[4]' या 'परचित्तविजानना[5]' जैसे सदृशरूप में अन्यत्र देखा जाता है। उक्त दो ज्ञानों की दर्शनान्तरीय तुलना इस प्रकार है—

१. जैन	२. वैदिक	
	वैशेषिक	पातञ्जल
१ अवधि	१ वियुक्तयोगिप्रत्यक्ष अथवा युञ्जानयोगिप्रत्यक्ष	१ भुवनज्ञान, ताराव्यूहज्ञान, ध्रुवगतिज्ञान आदि
२ मनःपर्याय		२ परचित्तज्ञान २ परचित्तज्ञान, चेतःपरिज्ञान

मनःपर्याय ज्ञान का विषय मन के द्वारा चिन्त्यमान वस्तु है या चिन्तनप्रवृत्त

१ देखो, योगसूत्र विभूतिपाद, सूत्र १६.२६ इत्यादि।
२ देखो, कंदलीटीकासहित प्रशस्तपादभाष्य, पृ० १८७।
३ देखो, मज्झिमनिकाय, सुत्त ६।
४ 'प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्'-योगसूत्र. ३.१६।
५ देखो, अभिधम्मत्थसंगहो, ६.२४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनोद्रव्य की अवस्थाएँ हैं'—इस विषय में जैन परंपरा में ऐकमत्य नहीं। निर्युक्ति और तत्त्वार्थसूत्र एवं तत्त्वार्थसूत्रीय व्याख्याओं में पहला पक्ष वर्णित है; जब कि विशेषावश्यकभाष्य में दूसरे पक्ष का समर्थन किया गया है। परंतु योगभाष्य तथा मज्झिमनिकाय में जो परचित्त ज्ञान का वर्णन है उसमें केवल दूसरा ही पक्ष है जिसका समर्थन जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण ने किया है। योगभाष्यकार तथा मज्झिमनिकायकार स्पष्ट शब्दों में यही कहते हैं कि ऐसे प्रत्यक्ष के द्वारा दूसरों के चित्त का ही साक्षात्कार होता है, चित्त के आलम्बन का नहीं। योगभाष्य में तो चित्त के आलम्बन का ग्रहण हो न सकने के पक्ष में दलीलें भी दी गई हैं।

यहाँ विचारणीय बातें दो हैं—एक तो यह कि मनःपर्याय ज्ञान के विषय के बारे में जो जैन वाङ्मय में दो पक्ष देखे जाते हैं, इसका स्पष्ट अर्थ क्या यह नहीं है कि पिछले वर्णनकारी साहित्य युग में ग्रन्थकार पुरानी आध्यात्मिक बातों का तार्किक वर्णन तो करते थे पर आध्यात्मिक अनुभव का युग बीत चुका था। दूसरी बात विचारणीय यह है कि योगभाष्य, मज्झिमनिकाय और विशेषावश्यक-भाष्य में पाया जानेवाला ऐकमत्य स्वतंत्र चिन्तन का परिणाम है या किसी एक का दूसरे पर असर भी है?

जैन वाङ्मय में अवधि और मनःपर्याय के संबन्ध में जो कुछ वर्णन है उस सबका उपयोग करके उपाध्यायजी ने ज्ञानबिन्दु में उन दोनों ज्ञानों का ऐसा सुपरिष्कृत लक्षण किया है और लक्षणगत प्रत्येक विशेषण का ऐसा बुद्धिगम्य प्रयोजन बतलाया है जो अन्य किसी ग्रन्थ में पाया नहीं जाता। उपाध्यायजी ने लक्षणविचार तो उक्त दोनों ज्ञानों के भेद को मानकर ही किया है, पर साथ ही उन्होंने उक्त दोनों ज्ञानों का भेद न माननेवाली सिद्धसेन दिवाकर की दृष्टि का समर्थन भी [५५–५६] बड़े मार्मिक ढंग से किया है।

४. केवल ज्ञान की चर्चा

[५७] अवधि और मनःपर्याय ज्ञान की चर्चा समाप्त करने के बाद उपाध्यायजी ने केवलज्ञान की चर्चा शुरू की है, जो ग्रन्थ के अन्त तक चली जाती है और ग्रंथ की समाप्ति के साथ ही पूर्ण होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अन्य ज्ञानों की अपेक्षा केवलज्ञान की ही चर्चा अधिक विस्तृत है। मति आदि चार पूर्ववर्ती ज्ञानों की चर्चा ने ग्रंथ का जितना भाग रोका है उससे कुछ कम दूना ग्रंथ-भाग अकेले केवलज्ञान की चर्चा ने रोका है। इस चर्चा में जिन अनेक

१ देखो, प्रमाणमीमांसा, भाषाटिप्पण पृ० ३७; तथा ज्ञानबिन्दु, टिप्पण पृ० १०७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमेयों पर उपाध्यायजी ने विचार किया है उनमें से नीचे लिखे विचारों पर यहाँ कुछ विचार प्रदर्शित करना इष्ट है–

(१) केवल ज्ञान के अस्तित्व की साधक युक्ति।

(२) केवल ज्ञान के स्वरूप का परिष्कृत लक्षण।

(३) केवल ज्ञान के उत्पादक कारणों का प्रश्न।

(४) रागादि दोषों के ज्ञानावारकत्व तथा कर्मजन्यत्व का प्रश्न।

(५) नैरात्म्यभावना का निरास।

(६) ब्रह्मज्ञान का निरास।

(७) श्रुति और स्मृतियों का जैन मतानुकूल व्याख्यान।

(८) कुछ ज्ञातव्य जैन मन्तव्यों का कथन।

(९) केवलज्ञान और केवलदर्शन के क्रम तथा भेदाभेद के संबन्ध में पूर्वाचार्यों के पक्षभेद।

(१०) ग्रंथकार का तात्पर्य तथा उनकी स्वोपज्ञ विचारणा।

(१) केवल ज्ञान के अस्तित्व की साधक युक्ति

[५८] भारतीय तत्त्वचिन्तकों में जो आध्यात्मिक-शक्तिवादी हैं, उनमें भी आध्यात्मिकशक्तिजन्य ज्ञान के बारे में संपूर्ण ऐकमत्य नहीं। आध्यात्मिकशक्तिजन्य ज्ञान संक्षेप में दो प्रकार का माना गया है। एक तो वह जो इन्द्रियागम्य ऐसे सूक्ष्म मूर्त पदार्थों का साक्षात्कार कर सके। दूसरा वह जो मूर्त-अमूर्त सभी त्रैकालिक वस्तुओं का एक साथ साक्षात्कार करे। इनमें से पहले प्रकार का साक्षात्कार तो सभी आध्यात्मिक तत्त्वचिन्तकों को मान्य है, फिर चाहे नाम आदि के संबन्ध में भेद भले ही हो। पूर्व मीमांसक जो आध्यात्मिकशक्तिजन्य पूर्ण साक्षात्कार या सर्वज्ञत्व[1] का विरोधी है उसे भी पहले प्रकार के आध्यात्मिकशक्ति-जन्य अपूर्ण साक्षात्कार को मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। मतभेद है तो सिर्फ आध्यात्मिकशक्तिजन्य पूर्ण साक्षात्कार के हो सकने न हो सकने के विषय में। मीमांसक के सिवाय दूसरा कोई आध्यात्मिक वादी नहीं है जो ऐसे सार्वज्ञ्य—पूर्ण साक्षात्कार को न मानता हो। सभी सार्वज्ञ्यवादी परंपराओं के शास्त्रों में पूर्ण साक्षात्कार के अस्तित्व का वर्णन तो परापूर्व से चला ही आता है; पर प्रतिवादी के सामने उसकी समर्थक युक्तियाँ हमेशा एक-सी नहीं रही हैं।

---

१ सर्वज्ञत्ववाद के तुलनात्मक इतिहास के लिए देखो, प्रमाणमीमांसा भाषाटिप्पण, पृ० २७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इनमें समय-समय पर विकास होता रहा है। उपाध्यायजी ने प्रस्तुत ग्रन्थ में सर्वज्ञत्व की समर्थक जिस युक्ति को उपस्थित किया है वह युक्ति उद्देश्यतः प्रतिवादी मीमांसकों के संमुख ही रखी गई है। मीमांसक का कहना है कि ऐसा कोई शास्त्रनिरपेक्ष मात्र आध्यात्मिकशक्तिजन्य पूर्ण ज्ञान हो नहीं सकता जो धर्माधर्म जैसे अतीन्द्रिय पदार्थों का भी साक्षात्कार कर सके। उसके सामने सार्वज्ञ्यवादियों की एक युक्ति यह रही है कि जो वस्तु[1] सातिशय—तरतमभावापन्न होती है वह बढ़ते-बढ़ते कहीं न नहीं पूर्ण दशा को प्राप्त कर लेती है। जैसे कि परिमाण। परिमाण छोटा भी है और तरतमभाव से बड़ा भी। अतएव वह आकाश आदि में पूर्ण काष्ठा को प्राप्त देखा जाता है। यही हाल ज्ञान का भी है। ज्ञान कहीं अल्प तो कहीं अधिक—इस तरह तरतमवाला देखा जाता है। अतएव वह कहीं न कहीं संपूर्ण भी होना चाहिए। जहाँ वह पूर्णकलाप्राप्त होगा वही सर्वज्ञ। इस युक्ति के द्वारा उपाध्यायजी ने भी ज्ञानबिन्दु में केवल ज्ञान के अस्तित्व का समर्थन किया है।

यहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से यह प्रश्न है कि प्रस्तुत युक्ति का मूल कहाँ तक पाया जाता है और वह जैन परंपरा में कब से आई देखी जाती है। अभी तक के हमारे वाचन-चिन्तन से हमें यही जान पड़ता है कि इस युक्ति का पुराणतम उल्लेख योगसूत्र के अलावा अन्यत्र नहीं है। हम पातंजल योगसूत्र के प्रथमपाद में 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' [१. २५.] ऐसा सूत्र पाते हैं, जिसमें साफ तौर से यह बतलाया गया है कि ज्ञान का तारतम्य ही सर्वज्ञ के अस्तित्व का बीज है जो ईश्वर में पूर्णरूपेण विकसित है। इस सूत्र के ऊपर के भाष्य में व्यास ने तो मानों सूत्र के विधान का आशय हस्तामलकवत् प्रकट किया है। न्याय-वैशेषिक परंपरा जो सर्वज्ञवादी है उसके सूत्र भाष्य आदि प्राचीन ग्रंथों में इस सर्वज्ञास्तित्व की साधक युक्ति का उल्लेख नहीं है, हम प्रशस्तपाद की टीका व्योमवती [पृ० ५६०] में उसका उल्लेख पाते हैं। पर ऐसा कहना निर्युक्तिक नहीं होगा कि व्योमवती का वह उल्लेख योगसूत्र तथा उसके भाष्य के बाद का ही है। काम की किसी भी अच्छी दलील का प्रयोग जब एक बार किसी के द्वारा चर्चाक्षेत्र में आ जाता है तब फिर आगे वह सर्वसाधारण हो जाता है। प्रस्तुत युक्ति के बारे में भी यही हुआ जान पड़ता है। संभवतः सांख्य-योग परंपरा ने उस युक्ति का आविष्कार किया फिर उसने न्याय-वैशेषिक तथा बौद्ध[2] परंपरा के

१ देखो, ज्ञानबिन्दु, टिप्पण पृ० १०८. पं० १६।

२ देखो, तत्त्वसंग्रह, पृ० ८२५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रंथों में भी प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त किया और इसी तरह वह जैन परंपरा में भी प्रतिष्ठित हुई।

जैन परंपरा के आगम, नियुक्ति, भाष्य आदि प्राचीन अनेक ग्रन्थ सर्वज्ञत्व के वर्णन से भरे पड़े हैं, पर हमें उपर्युक्त ज्ञानतारतम्य वाली सर्वज्ञत्वसाधक युक्ति का सर्व प्रथम प्रयोग मल्लवादी की कृति में ही देखने को मिलता है[1]। अभी यह कहना संभव नहीं कि मल्लवादी ने किस परंपरा से वह युक्ति अपनाई। पर इतना तो निश्चित है कि मल्लवादी के बाद के सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर तार्किकों ने इस युक्ति का उदारता से उपयोग किया है। उपाध्यायजी ने भी ज्ञानबिन्दु में केवलज्ञान के अस्तित्व को सिद्ध करने के वास्ते एक मात्र इसी युक्ति का प्रयोग तथा पल्लवन किया है।

(२) केवलज्ञान का परिष्कृत लक्षण

[५७] प्राचीन आगम, निर्युक्ति आदि ग्रन्थों में तथा पीछे के तार्किक ग्रंथों में जहाँ कहीं केवलज्ञान का स्वरूप जैन विद्वानों ने बतलाया है वहाँ स्थूल शब्दों में इतना ही कहा गया है कि जो आत्ममात्रसापेक्ष या बाह्यसाधननिरपेक्ष साक्षात्कार, सब पदार्थों को अर्थात् त्रैकालिक द्रव्य-पर्यायों को विषय करता है वही केवलज्ञान है। उपाध्यायजी ने प्रस्तुत ग्रन्थ में केवलज्ञान का स्वरूप तो वही माना है पर उन्होंने उसका निरूपण ऐसी नवीन शैली से किया है जो उनके पहले के किसी जैन ग्रन्थ में नहीं देखी जाती। उपाध्यायजी ने नैयायिक उदयन तथा गंगेश आदि की परिष्कृत परिभाषा में केवलज्ञान के स्वरूप का लक्षण सविस्तर स्पष्ट किया है। इस जगह इनके लक्षण से संबन्ध रखनेवाले दो मुद्दों पर दार्शनिक तुलना करनी प्राप्त है, जिनमें पहला है साक्षात्कारत्व का और दूसरा है सर्वविषयकत्व का। इन दोनों मुद्दों पर मीमांसक भिन्न सभी दार्शनिकों का ऐकमत्य है। अगर उनके कथन में थोड़ा अन्तर है तो वह सिर्फ परंपरा भेद का ही है[2]। न्याय-वैशेषिक दर्शन जब 'सर्व' विषयक साक्षात्कार का वर्णन करता है तब वह 'सर्व' शब्द से अपनी परंपरा में प्रसिद्ध द्रव्य, गुण आदि सातों पदार्थों को संपूर्ण भाव से लेता है। सांख्य-योग जब 'सर्व' विषयक साक्षात्कार का चित्रण करता है तब वह अपनी परंपरा में प्रसिद्ध प्रकृति, पुरुष आदि २५ तत्त्वों के पूर्ण साक्षात्कार की बात कहता है। बौद्ध दर्शन 'सर्व' शब्द से अपनी

---

२ देखो, नयचक्र, लिखित प्रति, पृ० १२३ अ।

३ देखो, तत्त्वसंग्रह, का० ३१३४; तथा उसकी पञ्जिका।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परंपरा में प्रसिद्ध पञ्च स्कन्धों को संपूर्ण भाव से लेता है। वेदान्त दर्शन 'सर्व' शब्द से अपनी परंपरा में पारमार्थिक रूप से प्रसिद्ध एक मात्र पूर्ण ब्रह्म को ही लेता है। जैन दर्शन भी 'सर्व' शब्द से अपनी परंपरा में प्रसिद्ध सपर्याय षड् द्रव्यों को पूर्णरूपेण लेता है। इस तरह उपर्युक्त सभी दर्शन अपनी-अपनी परंपरा के अनुसार माने जानेवाले सब पदार्थों को लेकर उनका पूर्ण साक्षात्कार मानते हैं और तदनुसारी लक्षण भी करते हैं। पर इस लक्षणगत उक्त सर्व-विषयकत्व तथा साक्षात्कारत्व के विरुद्ध मीमांसक की सख्त आपत्ति है।

मीमांसक सर्वज्ञवादियों से कहता है[1] कि—अगर सर्वज्ञ का तुम लोग नीचे लिखे पाँच अर्थों में से कोई भी अर्थ करो तो तुम्हारे विरुद्ध मेरी आपत्ति नहीं। अगर तुम लोग यह कहो कि—सर्वज्ञ का मानी है 'सर्व' शब्द को जाननेवाला (१); या यह कहो कि—सर्वज्ञ शब्द से हमारा अभिप्राय है तेल, पानी आदि किसी एक चीज को पूर्ण रूपेण जानना (२); या यह कहो कि—सर्वज्ञ शब्द से हमारा मतलब है सारे जगत को मात्र सामान्यरूपेण जानना (३); या यह कहो कि—सर्वज्ञ शब्द का अर्थ है हमारी अपनी-अपनी परंपरा में जो-जो तत्त्व शास्त्र सिद्ध हैं उनका शास्त्र द्वारा पूर्ण ज्ञान (४); या यह कहो कि—सर्वज्ञ शब्द से हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि जो-जो वस्तु, जिस-जिस प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाण गम्य है उन सब वस्तुओं को उनके ग्राहक सब प्रमाणों के द्वारा यथासंभव जानना (५); वही सर्वज्ञत्व है। इन पाँचों में से तो किसी पक्ष के सामने मीमांसक की आपत्ति नहीं; क्योंकि मीमांसक उक्त पाँचों पक्षों के स्वीकार के द्वारा फलित होनेवाला सर्वज्ञत्व मानता ही है। उसकी आपत्ति है तो इस पर कि ऐसा कोई साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) हो नहीं सकता जो जगत् के संपूर्ण पदार्थों को पूर्णरूपेण क्रम से या युगपत् जान सके। मीमांसक को साक्षात्कारत्व मान्य है, पर वह असर्वविषयक ज्ञान में। उसे सर्वविषयकत्व भी अभिप्रेत है, पर वह शास्त्रजन्य परोक्ष ज्ञान ही में।

इस तरह केवलज्ञान के स्वरूप के विरुद्ध सबसे प्रबल और पुरानी आपत्ति उठानेवाला है मीमांसक। उसको सभी सर्वज्ञवादियों ने अपने-अपने ढंग से जवाब दिया है। उपाध्यायजी ने भी केवलज्ञान के स्वरूप का परिष्कृत लक्षण करके, उस विषय में मीमांसक संमत स्वरूप के विरुद्ध ही जैन मन्तव्य है, यह बात बतलाई है।

यहाँ प्रसंगवश एक बात और भी जान लेनी जरूरी है। वह यह कि यद्यपि

---

१ देखो, तत्त्वसंग्रह, का० ३१२६ से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेदान्त दर्शन भी अन्य सर्वज्ञवादियों की तरह सर्व—पूर्ण ब्रह्मविषयक साक्षात्कार मानकर अपने को सर्वसाक्षात्कारात्मक केवलज्ञान का माननेवाला बतलाता है और मीमांसक के मन्तव्य से जुदा पड़ता है; फिर भी एक मुद्दे पर मीमांसक और वेदान्त की एकवाक्यता है। वह मुद्दा है शास्त्रसापेक्षता का। मीमांसक कहता है कि सर्वविषयक परोक्ष ज्ञान भी शास्त्र के सिवाय हो नहीं सकता। वेदान्त ब्रह्मसाक्षात्कार रूप सर्वसाक्षात्कार को मानकर भी उसी बात को कहता है। क्योंकि वेदान्त का मत है कि ब्रह्मज्ञान भले ही साक्षात्कार रूप हो, पर उसका संभव वेदान्तशास्त्र के सिवाय नहीं है। इस तरह मूल में एक ही वेदपथ पर प्रस्थित मीमांसक और वेदान्त का केवल ज्ञान के स्वरूप के विषय में मतभेद होते हुए भी उसके उत्पादक कारण रूप से एक मात्र वेद शास्त्र का स्वीकार करने में कोई भी मतभेद नहीं।

(३) केवल ज्ञान के उत्पादक कारणों का प्रश्न

[५६] केवल ज्ञान के उत्पादक कारण अनेक हैं, जैसे—भावना, अदृष्ट, विशिष्ट शब्द और आवरणक्षय आदि। इनमें किसी एक को प्राधान्य और बाकी को अप्राधान्य देकर विभिन्न दार्शनिकों ने केवलज्ञान की उत्पत्ति के जुदे-जुदे कारण स्थापित किए हैं। उदाहरणार्थ—सांख्य-योग और बौद्ध दर्शन केवल ज्ञान के जनक रूप से भावना का प्रतिपादन करते हैं, जब कि न्याय-वैशेषिक दर्शन योगज अदृष्ट को केवलज्ञानजनक बतलाते हैं। वेदान्त 'तत्त्वमसि' जैसे महावाक्य को केवलज्ञान का जनक मानता है, जब कि जैन दर्शन केवलज्ञान-जनकरूप से आवरण—कर्म—क्षय का ही स्थापन करता है। उपाध्यायजी ने भी प्रस्तुत ग्रंथ में कर्मक्षय को ही केवलज्ञानजनक स्थापित करने के लिए अन्य पक्षों का निरास किया है।

मीमांसा जो मूल में केवलज्ञान के ही विरुद्ध है उसने सर्वज्ञत्व का असंभव दिखाने के लिए भावनामूलक [१] सर्वज्ञत्ववादी के सामने यह दलील की है कि—भावनाजन्य ज्ञान यथार्थ हो ही नहीं सकता; जैसा कि कामुक व्यक्ति का भावना-मूलक स्वाप्निक कामिनीसाक्षात्कार। [६१] दूसरे यह कि भावनाज्ञान परोक्ष होने से अपरोक्ष सार्वज्ञ्य का जनक भी नहीं हो सकता। तीसरे यह कि अगर भावना को सार्वज्ञ्यजनक माना जाए तो एक अधिक प्रमाण भी [पृ० २० पं० २३] मानना पड़ेगा। मीमांसा के द्वारा दिये गए उक्त तीनों दोषों में से पहले दो दोषों का उद्धार तो बौद्ध, सांख्य-योग आदि सभी भावनाकारणवादी

१ देखो, ज्ञानबिन्दु, टिप्पण, पृ० १०८ पं० २३ से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक-सा करते हैं, जब कि उपाध्यायजी उक्त तीनों दोषों का उद्धार अपना सिद्धान्त भेद [६२] बतला कर ही करते हैं। वे ज्ञानबिन्दु में कर्मक्षय पक्ष पर ही भार देकर कहते हैं कि वास्तव में तो सार्वज्ञ्य का कारण है कर्मक्षय ही। कर्मक्षय को प्रधान मानने में उनका अभिप्राय यह है कि वही केवलज्ञान की उत्पत्ति का अव्यवहित कारण है। उन्होंने भावना को कारण नहीं माना, सो अप्राधान्य की दृष्टि से। वे स्पष्ट कहते हैं कि—भावना जो शुक्लध्यान का ही नामान्तर है वह केवलज्ञान की उत्पादक अवश्य है; पर कर्मक्षय के द्वारा ही। अतएव भावना केवलज्ञान का अव्यवहित कारण न होने से कर्मक्षय की अपेक्षा अप्रधान ही है। जिस युक्ति से उन्होंने भावनाकारणवाद का निरास किया है उसी युक्ति से उन्होंने अदृष्टकारणवाद का भी निरास [६३] किया है। वे कहते हैं कि अगर योगजन्य अदृष्ट सार्वज्ञ्य का कारण हो तब भी वह कर्मरूप प्रतिबन्धक के नाश के सिवाय सार्वज्ञ्य पैदा नहीं कर सकता। ऐसी हालत में अदृष्ट की अपेक्षा कर्मक्षय ही केवलज्ञान की उत्पत्ति में प्रधान कारण सिद्ध होता है। शब्दकारणवाद का निरास उपाध्यायजी ने यही कहकर किया है कि—सहकारी कारण कैसे ही क्यों न हों, पर परोक्ष ज्ञान का जनक शब्द कभी उनके सहकार से अपरोक्ष ज्ञान का जनक नहीं बन सकता।

सार्वज्ञ्य की उत्पत्ति का क्रम सब दर्शनों का समान ही है। परिभाषा भेद भी नहीं-सा है। इस बात की प्रतीति नीचे की गई तुलना से हो जाएगी—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१ जैन	२ बौद्ध	३ सांख्य-योग	४ न्याय-वैशेषिक	५ वेदान्त
१ सम्यग्दर्शन	१ सम्यग्दृष्टि	१ विवेक ख्याति	१ सम्यग्ज्ञान	१ सम्यग्दर्शन
२ क्षपकश्रेणीका–रागादि के ह्रास का–प्रारंभ	२ रागादि क्लेशों के ह्रास का प्रारंभ	२ प्रसंख्यान–संप्रज्ञात समाधि का प्रारंभ	१ रागादिह्रास का प्रारंभ	२ रागादिह्रास का प्रारंभ
३ शुक्लध्यान के बल से मोहनीय का–रागादिदोष का आत्यन्तिक क्षय	३ भावना के बल से क्लेशावरण का आत्यन्तिक क्षय	३ असंप्रज्ञात–धर्ममेघ समाधि द्वारा रागादि क्लेशकर्म की आत्यन्तिक निवृत्ति	३ असंप्रज्ञात–धर्म-मेघ समाधि द्वारा रागादि क्लेशकर्म की आत्यन्तिक निवृत्ति	३ भावना–निदि-ध्यासन के बल से क्लेशों का क्षय
४ ज्ञानावरण के सर्वथा नाश द्वारा सर्वज्ञत्व	४ भावना के प्रकर्ष से ज्ञेयावरण के सर्वथा नाश के द्वारा सर्वज्ञत्व	४ प्रकाशावरण के नाश द्वारा सार्वज्ञ्य	४ समाधिजन्य धर्म द्वारा सार्वज्ञ्य	४ ब्रह्मसाक्षात्कार के द्वारा अज्ञा-नादि का विलय

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

(४) रागादि दोषों का विचार

[६५] सर्वज्ञ ज्ञान की उत्पत्ति के क्रम के संबन्ध में जो तुलना ऊपर की गई है उससे स्पष्ट है कि राग, द्वेष आदि क्लेशों को ही सब दार्शनिक केवल-ज्ञान का आवारक मानते हैं। सबके मत से केवलज्ञान की उत्पत्ति तभी संभव है जब कि उक्त दोषों का सर्वथा नाश हो। इस तरह उपाध्यायजी ने रागादि दोषों में सर्वसंमत केवल-ज्ञानावारकत्व का समर्थन किया है और पीछे उन्होंने रागादि दोषों को कर्मजन्य स्थापित किया है। राग, द्वेष आदि जो चित्तगत या आत्मगत दोष हैं उनका मुख्य कारण कर्म अर्थात् जन्म-जन्मान्तर में संचित आत्मगत दोष ही हैं। ऐसा स्थापन करने में उपाध्यायजी का तात्पर्य पुनर्जन्मवाद का स्वीकार करना है। उपाध्यायजी आस्तिकदर्शनसम्मत पुनर्जन्मवाद की प्रक्रिया का आश्रय लेकर ही केवलज्ञान की प्रक्रिया का विचार करते हैं। अतएव इस प्रसंग में उन्होंने रागादि दोषों को कर्मजन्य या पुनर्जन्ममूलक न माननेवाले मतों की समीक्षा भी की है। ऐसे मत तीन हैं। जिनमें से एक मत [६६] यह है, कि राग कफजन्य है, द्वेष पित्तजन्य है और मोह वातजन्य है। दूसरा मत [६७] यह है कि राग शुक्रोपचयजन्य है इत्यादि। तीसरा मत [६८] यह है कि शरीर में पृथ्वी और जल तत्त्व की वृद्धि से राग पैदा होता है, तेजो और वायु की वृद्धि से द्वेष पैदा होता है, जल और वायु की वृद्धि से मोह पैदा होता है। इन तीनों मतों में राग, द्वेष और मोह का कारण मनोगत या आत्मगत कर्म न मानकर शरीरगत वैषम्य ही माना गया है। यद्यपि उक्त तीनों मतों के अनुसार राग, द्वेष और मोह के कारण भिन्न-भिन्न हैं; फिर भी उन तीनों मत की मूल दृष्टि एक ही है और वह यह है कि पुनर्जन्म या पुनर्जन्मसंबद्ध कर्म मानकर राग, द्वेष आदि दोषों की उत्पत्ति घटाने की कोई जरूरत नहीं है। शरीरगत दोषों के द्वारा या शरीरगत वैषम्य के द्वारा ही रागादि की उत्पत्ति घटाई जा सकती है।

यद्यपि उक्त तीनों मतों में से पहले ही को उपाध्यायजी ने बार्हस्पत्य अर्थात् चार्वाक मत कहा है; फिर भी विचार करने से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि उक्त तीनों मतों की आधारभूत मूल दृष्टि, पुनर्जन्म बिना माने ही वर्त्तमान शरीर का आश्रय लेकर विचार करनेवाली होने से, असल में चार्वाक दृष्टि ही है। इसी दृष्टि का आश्रय लेकर चिकित्साशास्त्र प्रथम मत को उपस्थित करता है; जब कि कामशास्त्र दूसरे मत को उपस्थित करता है। तीसरा मत संभवतः हठयोग का है। उक्त तीनों की समालोचना करके उपाध्यायजी ने यह बतलाया है कि राग, द्वेष और मोह के उपशमन तथा क्षय का सच्चा व मुख्य उपाय आध्यात्मिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् ज्ञान-ध्यान द्वारा आत्मशुद्धि करना ही है; न कि उक्त तीनों मतों के द्वारा प्रतिपादन किए जानेवाले मात्र भौतिक उपाय। प्रथम मत के पुरस्कर्त्ताओं ने वात, पित्त, कफ इन तीन धातुओं के साम्य सम्पादन को ही रागादि दोषों के शमन का उपाय माना है। दूसरे मत के स्थापकों ने समुचित कामसेवन आदि को ही रागादि दोषों का शमनोपाय माना है। तीसरे मत के समर्थकों ने पृथिवी, जल आदि तत्त्वों के समीकरण को ही रागादि दोषों का उपशमनोपाय माना है। उपाध्यायजी ने उक्त तीनों मतों की समालोचना में यही बतलाने की कोशिश की है कि समालोच्य तीनों मतों के द्वारा, जो-जो रागादि के शमन का उपाय बतलाया जाता है वह वास्तव में राग आदि दोषों का शमन कर ही नहीं सकता। वे कहते हैं कि वात आदि धातुओं का कितना ही साम्य क्यों न सम्पादित किया जाए, समुचित कामसेवन आदि भी क्यों न किया जाए, पृथिवी आदि तत्त्वों का समीकरण भी क्यों न किया जाए, फिर भी जब तक आत्म-शुद्धि नहीं होती तब तक राग-द्वेष आदि दोषों का प्रवाह भी सूख नहीं सकता। इस समालोचना से उपाध्यायजी ने पुनर्जन्मवादिसम्मत आध्यात्मिक मार्ग का ही समर्थन किया है।

उपाध्यायजी की प्रस्तुत समालोचना कोई सर्वथा नयी वस्तु नहीं है। भारत वर्ष में आध्यात्मिक दृष्टि वाले भौतिक दृष्टि का निरास हजारों वर्ष पहले से करते आए हैं। वही उपाध्यायजी ने भी किया है—पर शैली उनकी नई है। 'ज्ञानबिन्दु' में उपाध्यायजी ने उपर्युक्त तीनों मतों की जो समालोचना की है वह धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्त्तिक' और शान्तरक्षित के 'तत्त्वसंग्रह' में भी पाई जाती है[1]।

(५) नैरात्म्य आदि भावना

[६६] पहले तुलना द्वारा यह दिखाया जा चुका है कि सभी आध्यात्मिक दर्शन भावना—ध्यान द्वारा ही अज्ञान का सर्वथा नाश और केवलज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं। जब सार्वज्ञ्य प्राप्ति के लिए भावना आवश्यक है तब यह भी विचार करना प्राप्त है कि वह भावना कैसी अर्थात् किंविषयक ? भावना के स्वरूप विषयक प्रश्न का जवाब सब का एक नहीं है। दार्शनिक शास्त्रों में पाई जानेवाली भावना संक्षेप में तीन प्रकार की है—नैरात्म्यभावना, ब्रह्मभावना और विवेकभावना। नैरात्म्यभावना बौद्धों की है[2]। ब्रह्मभावना औपनिषद दर्शन की है। बाकी के सब दर्शन विवेकभावना मानते हैं। नैरात्म्य-

१ देखो, ज्ञानबिन्दु टिप्पण पृ० १०६ पं० २६ से।

२ देखो, ज्ञानबिन्दु टिप्पण पृ० १०६ पं० ३०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावना वह है जिसमें यह विश्वास किया जाता है कि स्थिर आत्मा जैसी या द्रव्य जैसी कोई वस्तु है ही नहीं। जो कुछ है वह सब क्षणिक एवं अस्थिर ही है। इसके विपरीत ब्रह्मभावना वह है जिसमें यह विश्वास किया जाता है कि ब्रह्म अर्थात् आत्म-तत्त्व के सिवाय और कोई वस्तु पारमार्थिक नहीं है; तथा आत्म-तत्त्व भी भिन्न-भिन्न नहीं है। विवेकभावना वह है जो आत्मा और जड़ दोनों द्रव्यों का पारमार्थिक और स्वतन्त्र अस्तित्व मानकर चलती है। विवेक-भावना को भेदभावना भी कह सकते हैं। क्योंकि उसमें जड़ और चेतन के पारस्परिक भेद की तरह जड़ तत्त्व में तथा चेतन तत्त्व में भी भेद मानने का अवकाश है। उक्त तीनों भावनाएँ स्वरूप में एक दूसरे से बिलकुल विरुद्ध हैं, फिर भी उनके द्वारा उद्देश्य सिद्धि में कोई अन्तर नहीं पड़ता। नैरात्म्यभावना के समर्थक बौद्ध कहते हैं कि अगर आत्मा जैसी कोई स्थिर वस्तु हो तो उस पर स्नेह भी शाश्वत रहेगा; जिससे तृष्णामूलक सुख में राग और दुःख में द्वेष होता है। जब तक सुख-राग और दुःख-द्वेष हो तब तक प्रवृत्ति-निवृत्ति—संसार का चक्र भी रुक नहीं सकता। अतएव जिसे संसार को छोड़ना हो उसके लिए सरल व मुख्य उपाय आत्माभिनिवेश छोड़ना ही है। बौद्ध दृष्टि के अनुसार सारे दोषों की जड़ केवल स्थिर आत्म-तत्त्व के स्वीकार में है। एक बार उस अभि-निवेश का सर्वथा परित्याग किया फिर तो न रहेगा बांस और न बजेगी बाँसुरी—अर्थात् जड़ के कट जाने से स्नेह और तृष्णामूलक संसारचक्र अपने आप बंध पड़ जाएगा।

ब्रह्मभावना के समर्थक कहते हैं कि अज्ञान ही दुःख व संसार की जड़ है। हम आत्मभिन्न वस्तुओं को पारमार्थिक मानकर उन पर अहंत्व-ममत्व धारण करते हैं और तभी रागद्वेषमूलक प्रवृत्ति-निवृत्ति का चक्र चलता है। अगर हम ब्रह्मभिन्न वस्तुओं में पारमार्थिकत्व मानना छोड़ दें और एक मात्र ब्रह्म का ही पारमार्थिकत्व मान लें तब अज्ञानमूलक अहंत्व-ममत्व की बुद्धि नष्ट हो जाने से तन्मूलक राग-द्वेषजन्य प्रवृत्ति-निवृत्ति का चक्र अपने आप ही रुक जाएगा।

विवेकभावना के समर्थक कहते हैं कि आत्मा और जड़ दोनों में पारमार्थि-कत्व बुद्धि हुई—इतने मात्र से अहंत्व-ममत्व पैदा नहीं होता और न आत्मा को स्थिर मानने मात्र से रागद्वेषादि की प्रवृत्ति होती है। उनका मन्तव्य है कि आत्मा को आत्मरूप न समझना और अनात्मा को अनात्मरूप न समझना यह अज्ञान है। अतएव जड़ में आत्मबुद्धि और आत्मा में जड़त्व की या शून्यत्व की बुद्धि करना यही अज्ञान है। इस अज्ञान को दूर करने के लिए विवेकभावना की आवश्यकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपाध्यायजी जैन दृष्टि के अनुसार विवेकभावना के अवलंबी हैं। यद्यपि विवेकभावना के अवलंबी सांख्य-योग तथा न्याय-वैशेषिक के साथ जैन दर्शन का थोड़ा मतभेद अवश्य है फिर भी उपाध्यायजी ने प्रस्तुत ग्रन्थ में नैरात्म्य-भावना और ब्रह्मभावना के ऊपर ही खास तौर से प्रहार करना चाहा है। इसका सबब यह है कि सांख्य-योगादिसंमत विवेकभावना जैनसंमत विवेकभावना से उतनी दूर या विरुद्ध नहीं जितनी कि नैरात्म्यभावना और ब्रह्मभावना है। नैरात्म्यभावना के खण्डन में उपाध्यायजी ने खासकर बौद्धसंमत क्षणभंग वाद का ही खण्डन किया है। उस खण्डन में उनकी मुख्य दलील यह रही है कि एकान्त क्षणिकत्व वाद के साथ बन्ध और मोक्ष की विचारसरणि मेल नहीं खाती है। यद्यपि उपाध्यायजी ने जैसा नैरात्म्यभावना का नामोल्लेखपूर्वक खण्डन किया है वैसा ब्रह्मभावना का नामोल्लेखपूर्वक खण्डन नहीं किया है, फिर भी उन्होंने आगे जाकर अति विस्तार से वेदांतसंमत सारी प्रक्रिया का जो खण्डन किया है उसमें ब्रह्मभावना का निरास अपने आप ही समा जाता है।

(६) ब्रह्मज्ञान का निरास

[७३] क्षणभंग वाद का निरास करने के बाद उपाध्यायजी अद्वैतवादि-संमत ब्रह्मज्ञान, जो जैनदर्शनसंमत केवलज्ञान स्थानीय है, उसका खण्डन शुरू करते हैं। मुख्यतया मधुसूदन सरस्वती के ग्रंथों को ही सामने रखकर उनमें प्रतिपादित ब्रह्मज्ञान की प्रक्रिया का निरास करते हैं। मधुसूदन सरस्वती शाङ्कर वेदान्त के असाधारण नव्य विद्वान् हैं; जो ईसा की सोलहवीं शताब्दी में हुए हैं। अद्वैतसिद्धि, सिद्धान्तबिन्दु, वेदान्तकल्पलतिका आदि अनेक गंभीर और विद्वन्मान्य ग्रन्थ उनके बनाए हुए हैं। उनमें से मुख्यतया वेदान्तकल्प-लतिका का उपयोग प्रस्तुत ग्रंथ में उपाध्यायजी ने किया है[1]। मधुसूदन सरस्वती ने वेदान्तकल्पलतिका में जिस विस्तार से और जिस परिभाषा में ब्रह्मज्ञान का वर्णन किया है उपाध्यायजी ने ठीक उसी विस्तार से उसी परिभाषा में प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु में खण्डन किया है। शाङ्करसंमत अद्वैत ब्रह्मज्ञानप्रक्रिया का विरोध सभी द्वैतवादी दर्शन एक सा करते हैं। उपाध्यायजी ने भी वैसा ही विरोध किया है पर पर्यवसान में थोड़ा सा अन्तर है। वह यह कि जब दूसरे द्वैतवादी अद्वैतदर्शन के बाद अपना-अपना अभिमत द्वैत स्थापना करते हैं, तब उपाध्यायजी ब्रह्मज्ञान के खण्डन के द्वारा जैनदर्शनसंमत द्वैत-प्रक्रिया का ही स्पष्टतया स्थापना करते

---

१ देखो, ज्ञानबिंदु टिप्पण पृ० १०६, पं० ६ तथा १११. पं ३०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। अतएव यह तो कहने की जरूरत ही नहीं कि उपाध्यायजी की खण्डन युक्तियाँ प्रायः वे ही हैं जो अन्य द्वैतवादियों की होती हैं।

प्रस्तुत खण्डन में उपाध्यायजी ने मुख्यतया चार मुद्दों पर आपत्ति उठाई है। (१) [७३] अखण्ड ब्रह्म का अस्तित्व। (२) [८४] ब्रह्माकार और ब्रह्मविषयक निर्विकल्पक वृत्ति। (३) [९४] ऐसी वृत्ति का शब्दमात्रजन्यत्व। (४) [७९] ब्रह्मज्ञान से अज्ञानादि की निवृत्ति। इन चारों मुद्दों पर तरह-तरह से आपत्ति उठाकर अन्त में यही बतलाया है कि अद्वैतसंमत ब्रह्मज्ञान तथा उसके द्वारा अज्ञाननिवृत्ति की प्रक्रिया ही सदोष और त्रुटिपूर्ण है। इस खण्डन प्रसंग में उन्होंने एक वेदान्तसंमत अति रमणीय और विचारणीय प्रक्रिया का भी सविस्तार उल्लेख करके खण्डन किया है। वह प्रक्रिया इस प्रकार है—[७६] वेदान्त पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रतिभासिक ऐसी तीन सत्ताएँ मानता है जो अज्ञानगत तीन शक्तियों का कार्य है। अज्ञान की प्रथमा शक्ति ब्रह्मभिन्न वस्तुओं में पारमार्थिकत्व बुद्धि पैदा करती है जिसके वशीभूत होकर लोग बाह्य वस्तुओं को पारमार्थिक मानते और कहते हैं। नैयायिकादि दर्शन, जो आत्मभिन्न वस्तुओं का भी पारमार्थिकत्व मानते हैं, वह अज्ञानगत प्रथम शक्ति का ही परिणाम है अर्थात् आत्मभिन्न बाह्य वस्तुओं को पारमार्थिक समझने वाले सभी दर्शन प्रथमशक्तिगर्भित अज्ञानजनित हैं। जब वेदान्तवाक्य से ब्रह्म-विषयक श्रवणादि का परिपाक होता है तब वह अज्ञान की प्रथम शक्ति निवृत्त होती है जिसका कि कार्य था प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व बुद्धि करना। प्रथम शक्ति के निवृत्त होते ही उसकी दूसरी शक्ति अपना कार्य करती है। वह कार्य है प्रपञ्च में व्यावहारिकत्व की प्रतीति। जिसने श्रवण, मनन, निदिध्यासन सिद्ध किया हो वह प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व कभी जान नहीं सकता पर दूसरी शक्ति द्वारा उसे प्रपञ्च में व्यावहारिकत्व की प्रतीति अवश्य होती है। ब्रह्मसाक्षात्कार से दूसरी शक्ति का नाश होते ही तज्जन्य व्यावहारिक प्रतीति का भी नाश हो जाता है। जो ब्रह्मसाक्षात्कारवान् हो वह प्रपञ्च को व्यावहारिक रूप से नहीं जानता पर तीसरी शक्ति के शेष रहने से उसके बल से वह प्रपञ्च को प्रातिभासिक रूप से प्रतीत करता है। वह तीसरी शक्ति तथा उसका प्रातिभासिक प्रतीतिरूप कार्य ये अंतिम बोध के साथ निवृत्त होते हैं और तभी बन्ध-मोक्ष की प्रक्रिया भी समाप्त होती है।

उपाध्यायजी ने उपर्युक्त वेदान्त प्रक्रिया का बलपूर्वक खण्डन किया है। क्योंकि अगर वे उस प्रक्रिया का खण्डन न करें तो इसका फलितार्थ यह होता है कि वेदांत के कथनानुसार जैन दर्शन भी प्रथमशक्तियुक्त अज्ञान का ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विलास है अतएव असत्य है। उपाध्यायजी मौके-मौके पर जैन दर्शन को यथार्थता ही साबित करना चाहते हैं। अतएव उन्होंने पूर्वाचार्य हरिभद्र की प्रसिद्ध उक्ति, [ज्ञानबिन्दु पृ० १. २६] जिसमें पृथ्वी आदि बाह्य तत्त्वों की तथा रागादिदोषरूप आन्तरिक वस्तुओं की वास्तविकता का चित्रण है, उसका हवाला देकर वेदान्त की उपर्युक्त अज्ञानशक्ति-प्रक्रिया का खण्डन किया है।

इस जगह वेदांत की उपर्युक्त अज्ञानगत त्रिविध शक्ति की त्रिविध सृष्टि वाली प्रक्रिया के साथ जैनदर्शन की त्रिविध आत्मभाव वाली प्रक्रिया की तुलना की जा सकती है।

जैन दर्शन के अनुसार बहिरात्मा, जो मिथ्यादृष्टि होने के कारण तीव्रतम कषाय और तीव्रतम अज्ञान के उदय से युक्त है अतएव जो अनात्मा को आत्मा मानकर सिर्फ उसी में प्रवृत्त होता है, वह वेदांतानुसारी आद्यशक्तियुक्त अज्ञान के बल से प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व की प्रतीति करनेवाले के स्थान में है। जिस को जैन दर्शन अंतरात्मा अर्थात् अन्य वस्तुओं के अहंत्व-ममत्व की ओर से उदासीन होकर उत्तरोत्तर शुद्ध आत्मस्वरूप में लीन होने की ओर बढ़नेवाला कहता है, वह वेदान्तानुसारी अज्ञानगत दूसरी शक्ति के द्वारा व्यावहारिकसत्त्व-प्रतीति करनेवाले व्यक्ति के स्थान में है। क्योंकि जैनदर्शन संमत अंतरात्मा उसी तरह आत्मविषयक श्रवण-मनन निदिध्यासन वाला होता है, जिस तरह वेदान्त संमत व्यावहारिकसत्त्वप्रतीति वाला ब्रह्म के श्रवण-मनन निदिध्यासन में। जैनदर्शनसंमत परमात्मा जो तेरहवें गुणस्थान में वर्तमान होने के कारण द्रव्य मनोयोग वाला है वह वेदान्तसंमत अज्ञानगत तृतीयशक्तिजन्य प्रतिभासिकसत्त्व-प्रतीति वाले व्यक्ति के स्थान में है। क्योंकि वह अज्ञान से सर्वथा मुक्त होने पर भी दग्धरज्जुकल्प भवोपग्रहिकर्म के संबंध से वचन आदि में प्रवृत्ति करता है। जैसा कि प्रातिभासिकसत्त्वप्रतीति वाला व्यक्ति ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर भी प्रपञ्च का प्रतिभास मात्र करता है। जैन दर्शन, जिसको शैलेशी अवस्थाप्राप्त आत्मा या मुक्त आत्मा कहता है वह वेदान्त संमत अज्ञानजन्य त्रिविध सृष्टि से पर अंतिमबोध वाले व्यक्ति के स्थान में है। क्योंकि उसे अब मन, वचन, कार्य का कोई विकल्पप्रसंग नहीं रहता, जैसा कि वेदान्तसंमत अंतिम ब्रह्मबोध वाले को प्रपञ्च में किसी भी प्रकार की सत्त्वप्रतीति नहीं रहती।

(७) श्रुति और स्मृतियों का जैनमतानुकूल व्याख्यान

[८८] वेदान्तप्रक्रिया की समालोचना करते समय उपाध्यायजी ने वेदान्त-संमत वाक्यों में से ही जैनसंमत प्रक्रिया फलित करने का भी प्रयत्न किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्होंने ऐसे अनेक श्रुति-स्मृति गत वाक्य उद्धृत किये हैं जो ब्रह्मज्ञान, एवं उसके द्वारा अज्ञान के नाश का, तथा अन्त में ब्रह्मभाव प्राप्ति का वर्णन करते हैं। उन्हीं वाक्यों में से जैनप्रक्रिया फलित करते हुए उपाध्यायजी कहते हैं कि ये सभी श्रुति-स्मृतियाँ जैनसंमत कर्म के व्यवधायकत्व का तथा क्षीणकर्मत्वरूप जैन-संमत ब्रह्मभाव का ही वर्णन करती हैं। भारतीय दार्शनिकों की यह परिपाटी रही है कि पहले अपने पक्ष के सयुक्तिक समर्थन के द्वारा प्रतिवादी के पक्ष का निरास करना और अन्त में सम्भव हो तो प्रतिवादी के मान्य शास्त्रवाक्यों में से ही अपने पक्ष को फलित करके बतलाना। उपाध्यायजी ने भी यही किया है।

(८) कुछ ज्ञातव्य जैनमन्तव्यों का कथन

ब्रह्मज्ञान की प्रक्रिया में आनेवाले जुदे-जुदे मुद्दों का निरास करते समय उपाध्यायजी ने उस-उस स्थान में कुछ जैनदर्शनसंमत मुद्दों का भी स्पष्टीकरण किया है। कहीं तो वह स्पष्टीकरण उन्होंने सिद्धसेन की सन्मतिगत गाथाओं के आधार से किया है और कहीं युक्ति और जैनशास्त्राभ्यास के बल से। जैन प्रक्रिया के अभ्यासियों के लिए ऐसे कुछ मन्तव्यों का निर्देश यहाँ कर देना जरूरी है।

(१) जैन दृष्टि से निर्विकल्पक बोध का अर्थ।

(२) ब्रह्म की तरह ब्रह्मभिन्न में भी निर्विकल्पक बोध का संभव।

(३) निर्विकल्पक और सविकल्पक बोध का अनेकान्त।

(४) निर्विकल्पक बोध भी शाब्द नहीं है किन्तु मानसिक है—ऐसा समर्थन।

(५) निर्विकल्पक बोध भी अवग्रह रूप नहीं किन्तु अपाय रूप है—ऐसा प्रतिपादन

(१) [९०] वेदान्तप्रक्रिया कहती है कि जब ब्रह्मविषयक निर्विकल्प बोध होता है तब वह ब्रह्म मात्र के अस्तित्व को तथा भिन्न जगत् के अभाव को सूचित करता है। साथ ही वेदान्तप्रक्रिया यह भी मानती है कि ऐसा निर्विकल्पक बोध सिर्फ ब्रह्मविषयक ही होता है अन्य किसी विषय में नहीं। उसका यह भी मत है कि निर्विकल्पक बोध हो जाने पर फिर कभी सविकल्पक बोध उत्पन्न ही नहीं होता। इन तीनों मन्तव्यों के विरुद्ध उपाध्यायजी जैन मन्तव्य बतलाते हुए कहते हैं कि निर्विकल्पक बोध का अर्थ है शुद्ध द्रव्य का उपयोग, जिसमें किसी भी पर्याय के विचार की छाया तक न हो। अर्थात् जो ज्ञान समस्त पर्यायों के संबंध का असंभव विचार कर केवल द्रव्य को ही विषय करता है, नहीं कि चिन्त्यमान द्रव्य से भिन्न जगत् के अभाव को भी। वही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान निर्विकल्पक बोध है; इसको जैन परिभाषा में शुद्धद्रव्यनयादेश भी कहा जाता है।

(२) ऐसा निर्विकल्पक बोध का अर्थ बतला कर उन्होंने यह भी बतलाया है कि निर्विकल्पक बोध जैसे चेतन द्रव्य में प्रवृत्त हो सकता है वैसे ही घटादि जड़ द्रव्य में भी प्रवृत्त हो सकता है। यह नियम नहीं कि वह चेतनद्रव्यविषयक ही हो। विचारक, जिस-जिस जड़ या चेतन द्रव्य में पर्यायों के संबंध का असंभव विचार कर केवल द्रव्य स्वरूप का ही ग्रहण करेगा, उस-उस जड़ चेतन सभी द्रव्य में निर्विकल्पक बोध हो सकेगा।

(३) [६२] उपाध्यायजी ने यह भी स्पष्ट किया है कि ज्ञानस्वरूप आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि जो एक मात्र निर्विकल्पक ज्ञानस्वरूप नहीं रहता। वह जब शुद्ध द्रव्य का विचार छोड़कर पर्यायों की ओर झुकता है तब वह निर्विकल्पक ज्ञान के बाद भी पर्यायसापेक्ष सविकल्पक ज्ञान भी करता है। अतएव यह मानना ठीक नहीं कि निर्विकल्पक बोध के बाद सविकल्पक बोध का संभव ही नहीं।

(४) वेदान्त दर्शन कहता है कि ब्रह्म का निर्विकल्पक बोध 'तत्त्वमसि' इत्यादि शब्दजन्य ही है। इसके विरुद्ध उपाध्यायजी कहते हैं [पृ० ३०, पं० २४] कि ऐसा निर्विकल्पक बोध पर्यायविनिर्मुक्तविचारसहकृत मन से ही उत्पन्न होने के कारण मनोजन्य मानना चाहिए, नहीं कि शब्दजन्य। उन्होंने अपने अभिमत मनोजन्यत्व का स्थापन करने के पक्ष में कुछ अनुकूल श्रुतियों को भी उद्धृत किया है [६४,६५]।

(५) [६३] सामान्य रूप से जैनप्रक्रिया में प्रसिद्धि ऐसी है कि निर्विकल्पक बोध तो अवग्रह का नामान्तर है। ऐसी दशा में यह प्रश्न होता है कि तब उपाध्यायजी ने निर्विकल्पक बोध को मानसिक कैसे कहा? क्योंकि अवग्रह विचार सहकृतमनोजन्य नहीं है; जब कि शुद्ध-द्रव्योपयोगरूप निर्विकल्पक बोध विचारसहकृतमनोजन्य है। इसका उत्तर उन्होंने यह दिया है कि जिस विचारसहकृतमनोजन्य शुद्धद्रव्योपयोग को हमने निर्विकल्पक कहा है वह ईहात्मकविचारजन्य अपायरूप है और नाम-जात्यादिकल्पना से रहित भी है।[1]

इन सब जैनाभिमत मन्तव्यों का स्पष्टीकरण करके अन्त में उन्होंने यही सूचित किया है कि सारी वेदान्तप्रक्रिया एक तरह से जैनसंमत शुद्धद्रव्यनयादेश की ही विचारसरणि है। फिर भी वेदान्तवाक्यजन्य ब्रह्ममात्र का

---

१ देखो, ज्ञानबिन्दु टिप्पण, पृ० ११४. पं० २५ से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साक्षात्कार ही केवलज्ञान है ऐसा वेदान्तमन्तव्य तो किसी तरह भी जैनसंमत हो नहीं सकता।

(६) केवलज्ञान-दर्शनोपयोग के भेदाभेद की चर्चा

[१०२] केवलज्ञान की चर्चा का अंत करते हुए उपाध्यायजी ने ज्ञान बिन्दु में केवलज्ञान और केवलदर्शन के संबंध में तीन पक्षभेदों अर्थात् विप्रतिपत्तियों को नव्य न्याय की परिभाषा में उपस्थित किया है, जो कि जैन परंपरा में प्राचीन समय से प्रचलित रहे हैं। वे तीन पक्ष इस प्रकार हैं—

(१) केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों उपयोग भिन्न हैं और वे एक साथ उत्पन्न न होकर क्रमशः अर्थात् एक-एक समय के अंतर से उत्पन्न होते रहते हैं।

(२) उक्त दोनों उपयोग भिन्न तो हैं पर उनकी उत्पत्ति क्रमिक न होकर युगपत् अर्थात् एक ही साथ होती रहती है।

(३) उक्त दोनों उपयोग वस्तुतः भिन्न नहीं हैं। उपयोग तो एक ही है पर उसके अपेक्षाविशेषकृत केवलज्ञान और केवलदर्शन ऐसे दो नाम हैं। अतएव नाम के सिवाय उपयोग में कोई भेद जैसी वस्तु नहीं है।

उक्त तीन पक्षों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करना जरूरी है। वाचक उमास्वाति, जो विक्रम की तीसरी से पाँचवी शताब्दी के बीच कभी हुए जान पड़ते हैं, उनके पूर्ववर्ती उपलब्ध जैन वाङ्मय को देखने से जान पड़ता है कि उसमें सिर्फ एक ही पक्ष रहा है और वह केवलज्ञान और केवलदर्शन के क्रमवर्तित्व का। हम सबसे पहले उमास्वाति के 'तत्त्वार्थभाष्य' में ऐसा उल्लेख[1] पाते हैं जो स्पष्टरूपेण युगपत् पक्ष का ही बोध करा सकता है। यद्यपि तत्त्वार्थभाष्यगत उक्त उल्लेख की व्याख्या करते हुए विक्रमीय ८–९ वीं सदी के विद्वान् श्वे० सिद्धसेनगणि ने[2] उसे क्रमपरक ही बतलाया है और साथ ही अपनी तत्त्वार्थ-भाष्य-व्याख्या में युगपत् तथा अभेद पक्ष का खण्डन भी किया है; पर इस पर अधिक ऊहापोह करने से यह जान पड़ता है कि सिद्धसेन गणि के पहले किसी ने तत्त्वार्थभाष्य की व्याख्या करते हुए उक्त उल्लेख को युगपत् परक भी

---

१ 'मतिज्ञानादिषु चतुर्षु पर्यायेणोपयोगो भवति, न युगपत्। संभिन्नज्ञानदर्शनस्य तु भगवतः केवलिनो युगपत् सर्वभावग्राहके निरपेक्षे केवलज्ञाने केवलदर्शने चानुसमयमुपयोगो भवति।'–तत्त्वार्थभा० १.३१।

२ देखो, तत्त्वार्थभाष्यटीका, पृ० १११–११२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बतलाया होगा। अगर हमारा यह अनुमान ठीक है तो ऐसा मानकर चलना चाहिए कि किसी ने तत्त्वार्थभाष्य के उक्त उल्लेख की युगपत् परक भी व्याख्या की थी, जो आज उपलब्ध नहीं है। 'नियमसार' ग्रन्थ जो दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द की कृति समझा जाता है उसमें स्पष्ट रूप से एक मात्र यौगपद्य पक्ष का (गा० १५९) ही उल्लेख है। पूज्यपाद देवनन्दी ने भी तत्त्वार्थ सूत्र की व्याख्या 'सर्वार्थसिद्धि'[1] में एक मात्र युगपत् पक्ष का ही निर्देश किया है। श्री कुन्दकुन्द और पूज्यपाद दोनों दिगम्बरीय परंपरा के प्राचीन विद्वान् हैं और दोनों की कृतियों में एक मात्र यौगपद्य पक्ष का स्पष्ट उल्लेख है। पूज्यपाद के उत्तरवर्ती दिगम्बराचार्य समंतभद्र ने भी अपनी 'आप्तमीमांसा'[2] में एकमात्र यौगपद्य पक्ष का उल्लेख किया है। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि कुन्दकुंद, पूज्यपाद और समंतभद्र—इन तीनों ने अपना अभिमत यौगपद्य पक्ष बतलाया है; पर इनमें से किसी ने यौगपद्यविरोधी क्रमिक या अभेद पक्ष का खण्डन नहीं किया है। इस तरह हमें श्री कुन्दकुन्द से समंतभद्र तक के किसी भी दिगम्बराचार्य की कोई ऐसी कृति अभी उपलब्ध नहीं है जिसमें क्रमिक या अभेद पक्ष का खण्डन हो। ऐसा खण्डन हम सबसे पहले अकलंक की कृतियों में पाते हैं। भट्ट अकलंक ने समंतभद्रीय आप्तमीमांसा की 'अष्टशती'[3] व्याख्या में यौगपद्य पक्ष का स्थापन करते हुए क्रमिक पक्ष का, संक्षेप में पर स्पष्ट रूप में खण्डन किया है और अपने 'राजवार्तिक'[4] भाष्य में तो क्रम पक्ष माननेवालों को सर्वज्ञनिन्दक कहकर उस पक्ष की अग्राह्यता की ओर संकेत किया है। तथा उसी राजवार्तिक में दूसरी जगह (६. १०. १४–१६) उन्होंने अभेद पक्ष की अग्राह्यता की ओर भी स्पष्ट इशारा किया है। अकलंक ने अभेद पक्ष के समर्थक सिद्धसेन दिवाकर के सन्मतितर्क नामक ग्रंथ में पाई जानेवाली दिवाकर की अभेदविषयक नवीन व्याख्या (सन्मति २. २५) का शब्दशः उल्लेख करके उसका जवाब इस तरह दिया है कि जिससे अपने

---

१ 'साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति। तत् छद्मस्थेषु क्रमेण वर्तते। निरावरणेषु युगपत्।'—सर्वार्थ०, १. ९।

२ 'तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्। क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्॥'—आप्तमी०, का० १०१।

३ तज्ज्ञानदर्शनयोः क्रमवृत्तौ हि सर्वज्ञत्वं कादाचित्कं स्यात्। कुतस्तत्सिद्धिरिति चेत् सामान्यविशेष विषययोर्विगतावरणयोरयुगपत् प्रतिभासायोगात् प्रतिबन्धकान्तराभावात्'—अष्टशती—अष्टसहस्री, पृ० २८१।

४ राजवार्तिक, ६. १३. ८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिमत युगपत् पक्ष पर कोई दोष न आवे और उसका समर्थन भी हो। इस तरह हम समूचे दिगम्बर वाङ्मय को लेकर जब देखते हैं तब निष्कर्ष यही निकलता है कि दिगम्बर परंपरा एकमात्र यौगपद्य पक्ष को ही मानती आई है और उसमें अकलंक के पहले किसी ने क्रमिक या अभेद पक्ष का खण्डन नहीं किया है केवल अपने पक्ष का निर्देश मात्र किया है।

अब हम श्वेताम्बरीय वाङ्मय की ओर दृष्टिपात करें। हम ऊपर कह चुके हैं कि तत्त्वार्थभाष्य के पूर्ववर्ती उपलब्ध आगमिक साहित्य में से तो सीधे तौर से केवल क्रमपक्ष ही फलित होता है। जबकि तत्त्वार्थभाष्य के उल्लेख से युगपत् पक्ष का बोध होता है। उमास्वाति और जिनभद्र क्षमाश्रमण–दोनों के बीच कम से कम दो सौ वर्षों का अन्तर है। इतने बड़े अन्तर में रचा गया कोई ऐसा श्वेताम्बरीय ग्रंथ अभी उपलब्ध नहीं है जिसमें कि यौगपद्य तथा अभेद पक्ष की चर्चा या परस्पर खण्डन-खण्डन हो[1]। पर हम जब विक्रमीय सातवीं सदी में हुए जिनभद्र क्षमाश्रमण की उपलब्ध दो कृतियों को देखते हैं तब ऐसा अवश्य मानना पड़ता है कि उनके पहले श्वेताम्बर परंपरा में यौगपद्य पक्ष की तथा अभेद पक्ष की, केवल स्थापना ही नहीं हुई थी, बल्कि उक्त तीनों पक्षों का परस्पर खण्डन-मण्डन वाला साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में बन चुका था। जिनभद्र गणि ने अपने अति विस्तृत 'विशेषावश्यकभाष्य' (गा० ३०९० से) में क्रमिक पक्ष का आगमिकों की ओर से जो विस्तृत सतर्क स्थापन किया है उसमें उन्होंने यौगपद्य तथा अभेद पक्ष का आगमानुसरण करके विस्तृत खण्डन भी किया है। तदुपरान्त उन्होंने अपने छोटे से 'विशेषणवती' नामक ग्रंथ (गा० १८४ से) में तो, विशेषावश्यकभाष्य की अपेक्षा भी अत्यन्त विस्तार से अपने अभिमत

---

१ निर्युक्ति में 'सव्वस्स केवलिस्स वि (पाठान्तर 'स्सा') जुगवं दो नत्थि उवओगा'–गा० ९७९–यह अंश पाया जाता है जो स्पष्टरूपेण केवली में माने जानेवाले यौगपद्य पक्ष का ही प्रतिवाद करता है। हमने पहले एक जगह यह संभावना प्रकट की है कि निर्युक्ति का अमुक भाग तत्त्वार्थभाष्य के बाद का भी संभव है। अगर वह संभावना ठीक है तो निर्युक्ति का उक्त अंश जो यौगपद्य पक्ष का प्रतिवाद करता है वह भी तत्त्वार्थभाष्य के यौगपद्यप्रतिपादक मन्तव्य का विरोध करता हो ऐसी संभावना की जा सकती है। कुछ भी हो, पर इतना तो स्पष्ट है कि श्री जिनभद्रगणि के पहले यौगपद्य पक्षका खण्डन हमें एक मात्र निर्युक्ति के उक्त अंश के सिवाय अन्यत्र कहीं अभी उपलब्ध नहीं; और निर्युक्ति में अभेद पक्ष के खण्डन का तो इशारा भी नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रमपक्ष का स्थापन तथा अनभिमत यौगपद्य तथा अभेद पक्ष का खण्डन किया है। क्षमाश्रमण की उक्त दोनों कृतियों में पाए जानेवाले खण्डन-मण्डनगत पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष की रचना तथा उसमें पाई जाने वाली अनुकूल-प्रतिकूल युक्तियों का ध्यान से निरीक्षण करने पर किसी को यह मानने में सन्देह नहीं रह सकता कि क्षमाश्रमण के पूर्व लम्बे अर्से से श्वेताम्बर परंपरा में उक्त तीनों पक्षों के माननेवाले मौजूद थे और वे अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते हुए विरोधी पक्ष का निरास भी करते थे। यह क्रम केवल मौखिक ही न चलता था बल्कि शास्त्रबद्ध भी होता रहा। वे शास्त्र आज भले ही मौजूद न हों पर क्षमाश्रमण के उक्त दोनों ग्रंथों में उनका सार देखने को आज भी मिलता है। इस पर से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जिनभद्र के पहले भी श्वेताम्बर परंपरा में उक्त तीनों पक्षों को माननेवाले तथा परस्पर खण्डन-मण्डन करनेवाले आचार्य हुए हैं। जब कि कम से कम जिनभद्र के समय तक में ऐसा कोई दिगम्बर विद्वान नहीं हुआ जान पड़ता कि जिसने क्रम पक्ष या अभेद पक्ष का खण्डन किया हो। और दिगम्बर विद्वान की ऐसी कोई कृति तो आज तक भी उपलब्ध नहीं है जिसमें यौगपद्य पक्ष के अलावा दूसरे किसी भी पक्ष का समर्थन हो।

जो कुछ हो पर यहाँ यह प्रश्न तो पैदा होता ही है कि प्राचीन आगमों के पाठ सीधे तौर से जब क्रम पक्ष का ही समर्थन करते हैं तब जैन परंपरा में यौगपद्य पक्ष और अभेद पक्ष का विचार क्यों कर दाखिल हुआ। इसका जवाब हमें दो तरह से सूझता है। एक तो यह कि जब असर्वज्ञवादी मीमांसक ने सभी सर्वज्ञवादियों के सामने यह आक्षेप किया[1] कि तुम्हारे सर्वज्ञ अगर क्रम से सब पदार्थों को जानते हैं तो वे सर्वज्ञ ही कैसे? और अगर एक साथ सभी पदार्थों को जानते हैं तो एक साथ सब जान लेने के बाद आगे वे क्या जानेंगे? कुछ भी तो फिर अज्ञात नहीं है। ऐसी दशा में भी वे असर्वज्ञ ही सिद्ध हुए। इस आक्षेप का जवाब दूसरे सर्वज्ञवादियों की तरह जैनों को भी देना प्राप्त हुआ। इसी तरह बौद्ध आदि सर्वज्ञवादी भी जैनों के प्रति यह आक्षेप करते रहे होंगे कि तुम्हारे सर्वज्ञ अर्हत् तो क्रम से जानते देखते हैं; अतएव वे पूर्ण सर्वज्ञ कैसे? इस आक्षेप का जवाब तो एक मात्र जैनों को ही देना प्राप्त था। इस तरह उपर्युक्त तथा अन्य ऐसे आक्षेपों का जवाब देने की विचारणा में से सर्व प्रथम यौगपद्य पक्ष, क्रम पक्ष के विरुद्ध जैन परंपरा में प्रविष्ट हुआ। दूसरा यह भी संभव है कि जैन परंपरा के तर्कशील विचारकों को अपने आप ही क्रम पक्ष में त्रुटि दिखाई दी और उस त्रुटि की पूर्ति के विचार में से उन्हें यौगपद्य पक्ष सर्व

१ देखो, तत्त्वसंग्रह का० ३२४८ से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम सूझ पड़ा। जो जैन विद्वान् यौगपद्य पक्ष को मान कर उसका समर्थन करते थे उनके सामने क्रम पक्ष माननेवालों का बड़ा आगमिक दल रहा जो आगम के अनेक वाक्यों को लेकर यह बतलाते थे कि यौगपद्य पक्ष का कभी जैन आगम के द्वारा समर्थन किया नहीं जा सकता। यद्यपि शुरू में यौगपद्य पक्ष तर्कबल के आधार पर ही प्रतिष्ठित हुआ जान पड़ता है, पर सम्प्रदाय की स्थिति ऐसी रही कि वे जब तक अपने यौगपद्य पक्ष का आगमिक वाक्यों के द्वारा समर्थन न करें और आगमिक वाक्यों से ही क्रम पक्ष माननेवालों को जवाब न दें, तब तक उनके यौगपद्य पक्ष का संप्रदाय में आदर होना संभव न था। ऐसी स्थिति देख कर यौगपद्य पक्ष के समर्थक तार्किक विद्वान भी आगमिक वाक्यों का आधार अपने पक्ष के लिए लेने लगे तथा अपनी दलीलों को आगमिक वाक्यों में से फलित करने लगे। इस तरह श्वेताम्बर परंपरा में क्रम पक्ष तथा यौगपद्य पक्ष का आगमाश्रित खण्डन-मण्डन चलता ही था कि बीच में किसी को अभेद पक्ष की सूझी। ऐसी सूझ वाला तार्किक यौगपद्य पक्ष वालों को यह कहने लगा कि अगर क्रम पक्ष में त्रुटि है तो तुम यौगपद्य पक्ष वाले भी उस त्रुटि से बच नहीं सकते। ऐसा कहकर उसने यौगपद्य पक्ष में भी असर्वज्ञत्व आदि दोष दिखाए और अपने अभेद पक्ष का समर्थन शुरू किया। इसमें तो संदेह ही नहीं कि एक बार क्रम पक्ष छोड़कर जो यौगपद्य पक्ष मानता है वह अगर सीधे तर्कबल का आश्रय ले तो उसे अभेद पक्ष पर अनिवार्य रूप से आना ही पड़ता है। अभेद पक्ष की सूझ वाले ने सीधे तर्कबल से अभेद पक्ष को उपस्थित करके क्रम पक्ष तथा यौगपद्य पक्ष का निरास तो किया पर शुरू में सांप्रदायिक लोग उसकी बात आगमिक वाक्यों के सुलझाव के सिवाय स्वीकार कैसे करते? इस कठिनाई को हटाने के लिए अभेद पक्ष वालों ने आगमिक परिभाषाओं का नया अर्थ भी करना शुरू किया और उन्होंने अपने अभेद पक्ष को तर्कबल से उपपन्न करके भी अंत में आगमिक परिभाषाओं के ढाँचे में बिठा दिया। क्रम, यौगपद्य और अभेद पक्ष के उपर्युक्त विकास की प्रक्रिया कम से कम १५० वर्ष तक श्वेताम्बर परंपरा में एक-सी चलती रही और प्रत्येक पक्ष के समर्थक धुरंधर विद्वान् होते रहे और वे ग्रन्थ भी रचते रहे। चाहे क्रमवाद के विरुद्ध जैनेतर परंपरा की ओर से आक्षेप हुए हों या चाहे जैन परंपरा के आंतरिक चिन्तन में से ही आक्षेप होने लगे हों, पर इसका परिणाम अंत में क्रमशः यौगपद्य पक्ष तथा अभेद पक्ष की स्थापना में ही आया, जिसकी व्यवस्थित चर्चा जिनभद्र की उपलब्ध विशेषणवती और विशेषावश्यकभाष्य नामक दोनों कृतियों में हमें देखने को मिलती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[१०२] उपाध्यायजी ने जो तीन विप्रतिपत्तियाँ दिखाई हैं उनका ऐतिहासिक विकास हम ऊपर दिखा चुके। अब उक्त विप्रतिपत्तियों के पुरस्कर्ता रूप से उपाध्यायजी के द्वारा प्रस्तुत किए गये तीन आचार्यों के बारे में कुछ विचार करना जरूरी है। उपाध्यायजी ने क्रम पक्ष के पुरस्कर्तारूप से जिनभद्र क्षमाश्रमण को, युगपत् पक्ष के पुरस्कर्तारूप से मल्लवादी को और अभेद पक्ष के पुरस्कर्तारूप से सिद्धसेन दिवाकर को निर्दिष्ट किया है। साथ ही उन्होंने मलयगिरि के कथन के साथ आनेवाली असंगति का तार्किक दृष्टि से परिहार भी किया है। असंगति यों आती है कि जब उपाध्यायजी सिद्धसेन दिवाकर को अभेद पक्ष का पुरस्कर्ता बतलाते हैं तब श्रीमलयागिरि सिद्धसेन दिवाकर को युगपत् पक्ष का पुरस्कर्ता बतलाते हैं[1]। उपाध्यायजी ने असंगति का परिहार यह कहकर किया है कि श्री मलयगिरि का कथन अभ्युपगम वाद की दृष्टि से है अर्थात् सिद्धसेन दिवाकर वस्तुतः अभेद पक्ष के पुरस्कर्ता हैं पर थोड़ी देर के लिए क्रम पक्ष का खण्डन करने के लिए शुरू में युगपत् पक्ष का आश्रय कर लेते हैं और फिर अन्त में अपना अभेद पक्ष स्थापित करते हैं। उपाध्यायजी ने असंगति का परिहार किसी भी तरह क्यों न किया हो परंतु हमें तो यहाँ तीनों विप्रतिपत्तियों के पक्षकारों को दर्शानेवाले सभी उल्लेखों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करना है।

हम यह ऊपर बतला चुके हैं कि क्रम, युगपत् और अभेद इन तीनों वादों की चर्चावाले सबसे पुराने दो ग्रन्थ इस समय हमारे सामने हैं। ये दोनों जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की ही कृति हैं। उनमें से, विशेषावश्यक भाष्य में तो चर्चा करते समय जिनभद्र ने पक्षकाररूप से न तो किसी का विशेष नाम दिया है और न 'केचित्' 'अन्ये' आदि जैसे शब्द ही निर्दिष्ट किये हैं। परंतु विशेषणवती में[2] तीनों वादों की चर्चा शुरू करने के पहले जिनभद्र ने 'केचित्' शब्द से युगपत् पक्ष प्रथम रखा है, इसके बाद 'अन्ये' कहकर क्रम पक्ष रखा है और अंत में 'अन्ये' कहकर अभेद पक्ष का निर्देश किया है। विशेषणवती की

---

१ देखो, नंदी टीका पृ० १३४।

२ 'केई भणंति जुगवं जाणइ पासइ य केवली नियमा।
अण्णे एगंतरियं इच्छंति सुओवएसेणं ॥ १८४ ॥
अण्णे ण चेव वीसुं दंसणमिच्छंति जिणवरिंदस्स।
जं चिय केवलणाणं तं चिय से दरिसणं बिंति ॥ १८५॥'
—विशेषणवती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनकी स्वोपज्ञ व्याख्या नहीं है इससे हम यह नहीं कह सकते हैं कि जिनभद्र को 'केचित्' और 'अन्ये' शब्द से उस-उस वाद के पुरस्कर्ता रूप से कौन-कौन आचार्य अभिप्रेत थे। यद्यपि विशेषणवती की स्वोपज्ञ व्याख्या नहीं है फिर भी उसमें पाई जानेवाली प्रस्तुत तीन वाद संबंधी कुछ गाथाओं की व्याख्या सबसे पहले हमें विक्रमीय आठवीं सदी के आचार्य जिनदास गणि की 'नन्दीचूर्णि' में मिलती है। उसमें भी हम देखते हैं कि जिनदास गणि 'केचित्' और 'अन्ये' शब्द से किसी आचार्य विशेष का नाम सूचित नहीं करते। वे सिर्फ इतना ही कहते हैं कि केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोग के बारे में आचार्यों की विप्रतिपत्तियाँ हैं। जिनदास गणि के थोड़े ही समय बाद आचार्य हरिभद्र ने उसी नन्दी चूर्णि के आधार से 'नन्दीवृत्ति' लिखी है। उन्होंने भी अपनी इस नन्दी वृत्ति में विशेषणवतीगत प्रस्तुत चर्चावाली कुछ गाथाओं को लेकर उनकी व्याख्या की है। जिनदास गणि ने जब 'केचित्' 'अन्ये' शब्द से किसी विशेष आचार्य का नाम सूचित नहीं किया तब हरिभद्रसूरि ने[1] विशेषणवती की उन्हीं गाथाओं में पाए जानेवाले 'केचित्' 'अन्ये' शब्द से विशेष-विशेष आचार्यों का नाम भी सूचित किया है। उन्होंने प्रथम 'केचित्' शब्द से युगपद्वाद के पुरस्कर्ता रूप से आचार्य सिद्धसेन का नाम सूचित किया है। इसके बाद 'अन्ये' शब्द से जिनभद्र क्षमाश्रमण को क्रमवाद के पुरस्कर्ता रूप से सूचित किया है और दूसरे 'अन्ये' शब्द से वृद्धाचार्य को अभेदवाद का पुरस्कर्ता बतलाया है। हरिभद्रसूरि के बाद बारहवीं सदी के मलयगिरिसूरि ने भी नन्दीसूत्र के ऊपर टीका लिखी है। उस (पृ० १३४) में उन्होंने वादों के पुरस्कर्ता के नाम के बारे में हरिभद्रसूरि के कथन का ही अनुसरण किया है। यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि विशेषावश्यक की उपलब्ध दोनों टीकाओं में – जिनमें से पहली आठवीं-नवीं सदी के कोट्याचार्य की है और दूसरी बारहवीं सदी के मलधारी हेमचन्द्र की है—तीनों

---

१ "'केचन' सिद्धसेनाचार्यादयः 'भणंति'। किं ?। 'युगपद्' एकस्मिन् काले जानाति पश्यति च ! कः ?। केवली, न त्वन्यः। 'नियमात्' नियमेन ॥ 'अन्ये' जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणप्रभृतयः। 'एकान्तरितम्' जानाति पश्यति च इत्येवं 'इच्छन्ति'। 'श्रुतोपदेशेन' यथाश्रुतागमानुसारेण इत्यर्थः। 'अन्ये' तु वृद्धाचार्याः 'न चैव विष्वक्' पृथक् तद् 'दर्शनमिच्छन्ति'। 'जिनवरेन्द्रस्य' केवलिन इत्यर्थः। किं तर्हि ?। 'यदेव केवलज्ञानं तदेव' 'से' तस्य केवलिनो 'दर्शनं' ब्रवते ॥"—नन्दीवृत्ति हारिभद्री, पृ० ५२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वादों के पुरस्कर्ता रूप से किसी आचार्य विशेष का नाम निर्दिष्ट नहीं है[1]। कम से कम कोट्याचार्य के सामने तो विशेषावश्यक भाष्य की जिनभद्रीय स्वोपज्ञ व्याख्या मौजूद थी ही। इससे यह कहा जा सकता है कि उसमें भी तीनों वादों के पुरस्कर्ता रूप से किसी विशेष आचार्य का नाम रहा न होगा; अन्यथा कोट्याचार्य उस जिनभद्रीय स्वोपज्ञ व्याख्या में से विशेष नाम अपनी विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति में जरूर लेते। इस तरह हम देखते हैं कि जिनभद्र की एकमात्र विशेषणवती गत गाथाओं की व्याख्या करते समय सबसे पहले आचार्य हरिभद्र ही तीनों वादों के पुरस्कर्ताओं का विशेष नामोल्लेख करते हैं।

दूसरी तरफ से हमारे सामने प्रस्तुत तीनों वादों की चर्चावाला दूसरा ग्रन्थ 'सन्मतितर्क' है जो निर्विवाद सिद्धसेन दिवाकर की कृति है। उसमें दिवाकरश्री ने क्रमवाद का पूर्वपक्ष रूप से उल्लेख करते समय 'केचित्' इतना ही कहा है। किसी विशेष नाम का निर्देश नहीं किया है। युगपत् और अभेदवाद को रखते समय तो उन्होंने 'केचित्' 'अन्ये' जैसे शब्द का प्रयोग भी नहीं किया है। पर हम जब विक्रमीय ग्यारहवीं सदी के आचार्य अभयदेव की 'सन्मतिटीका' को देखते हैं तब तीनों वादों के पुरस्कर्ताओं के नाम उसमें स्पष्ट पाते हैं[पृ० ६०८]। अभयदेव हरिभद्र की तरह क्रमवाद का पुरस्कर्ता तो जिनभद्र क्षमाश्रमण को ही बतलाते हैं पर आगे उनका कथन हरिभद्र के कथन से जुदा पड़ता है। हरिभद्र जब युगपद्वाद के पुरस्कर्ता रूप से आचार्य सिद्धसेन का नाम सूचित करते हैं तब अभयदेव उसके पुरस्कर्ता रूप से आचार्य मल्लवादी का नाम सूचित करते हैं। हरिभद्र जब अभेद वाद के पुरस्कर्ता रूप से वृद्धाचार्य का नाम सूचित करते हैं तब अभयदेव उसके पुरस्कर्ता रूप से आचार्य सिद्धसेन का नाम सूचित करते हैं। इस तरह दोनों के कथन में जो भेद या विरोध है उस पर विचार करना आवश्यक है।

ऊपर के वर्णन से यह तो पाठकगण भली भाँति जान सके होंगे कि हरिभद्र तथा अभयदेव के कथन में क्रमवाद के पुरस्कर्ता के नाम के संबन्ध में कोई मतभेद नहीं। उनका मतभेद युगपद् वाद और अभेद वाद के पुरस्कर्ताओं के

---

१ मलधारी ने अभेद पक्ष का समर्थक 'एवं कल्पितभेदमप्रतिहतम्' इत्यादि पद्य स्तुतिकारके नामसे उद्धृत किया है और कहा है कि वैसा मानना युक्तियुक्त नहीं है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि मलधारी ने स्तुतिकार को अभेदवादी माना है। देखो, विशेषा० गा० ३०६१ की टीका। उसी पद्य को कोट्याचार्य ने 'उक्तं च' कह करके उद्धृत किया है–पृ० ८७७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाम के संबन्ध में है। अब प्रश्न यह है कि हरिभद्र और अभयदेव दोनों के पुरस्कर्ता संबन्धी नामसूचक कथन का क्या आधार है? जहाँ तक हम जान सके हैं वहाँ तक कह सकते हैं कि उक्त दोनों सूरि के सामने क्रमवाद का समर्थक और युगपत् तथा अभेद वाद का प्रतिपादक साहित्य एकमात्र जिनभद्र का ही था, जिससे वे दोनों आचार्य इस बात में एकमत हुए, कि क्रमवाद श्री जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण का है। परंतु आचार्य हरिभद्र का उल्लेख अगर सब अंशों में अभ्रान्त है तो यह मानना पड़ता है कि उनके सामने युगपद्वाद का समर्थक कोई स्वतंत्र ग्रन्थ रहा होगा जो सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न किसी अन्य सिद्धसेन का बनाया होगा। तथा उनके सामने अभेदवाद का समर्थक ऐसा भी कोई ग्रन्थ रहा होगा जो सन्मतितर्क से भिन्न होगा और जो वृद्धाचार्य-रचित माना जाता होगा। अगर ऐसे कोई ग्रंथ उनके सामने न भी रहे हों तथापि कम से कम उन्हें ऐसी कोई सांप्रदायिक जनश्रुति या कोई ऐसा उल्लेख मिला होगा जिसमें कि आचार्य सिद्धसेन को युगपद्वाद का तथा वृद्धाचार्य को अभेदवाद का पुरस्कर्ता माना गया हो। जो कुछ हो पर हम सहसा यह नहीं कह सकते कि हरिभद्र जैसा बहुश्रुत आचार्य यों ही कुछ आधार के सिवाय युगपद्वाद तथा अभेदवाद के पुरस्कर्ताओं के विशेष नाम का उल्लेख कर दें। समान नामवाले अनेक आचार्य होते आए हैं। इसलिए असंभव नहीं कि सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न कोई दूसरे भी सिद्धसेन हुए हों जो कि युगपद्वाद के समर्थक हुए हों या माने जाते हों। यद्यपि सन्मतितर्क में सिद्धसेन दिवाकर ने अभेद पक्ष का ही स्थापन किया है अतएव इस विषय में सन्मतितर्क के आधार पर हम कह सकते हैं कि अभयदेव सूरि का अभेदवाद के पुरस्कर्ता रूप से सिद्धसेन दिवाकर के नाम का कथन बिलकुल सही है और हरिभद्र का कथन विचारणीय है। पर हम ऊपर कह आए हैं कि क्रम आदि तीनों वादों की चर्चा बहुत पहले से शुरू हुई और शताब्दियों तक चली तथा उसमें अनेक आचार्यों ने एक-एक पक्ष लेकर समय-समय पर भाग लिया। जब ऐसी स्थिति है तब यह भी कल्पना की जा सकती है कि सिद्धसेन दिवाकर के पहले वृद्धाचार्य नाम के आचार्य भी अभेद वाद के समर्थक हुए होंगे या परंपरा में माने जाते होंगे। सिद्धसेन दिवाकर के गुरुरूप से वृद्धवादी का उल्लेख भी कथानकों में पाया जाता है। आश्चर्य नहीं कि वृद्धाचार्य ही वृद्धवादी हों और गुरु वृद्धवादी के द्वारा समर्थित अभेद वाद का ही विशेष स्पष्टीकरण तथा समर्थन शिष्य सिद्धसेन दिवाकर ने किया हो। सिद्धसेन दिवाकर के पहले भी अभेद वाद के समर्थक निःसंदेह रूप से हुए हैं यह बात तो सिद्धसेन ने किसी अभेद वाद के समर्थक एकदेशीय मत [सन्मति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. २१] की जो समालोचना की है उसी से सिद्ध है। यह तो हुई हरिभद्रीय कथन के आधार की बात।

अब हम अभयदेव के कथन के आधार पर विचार करते हैं। अभयदेव सूरि के सामने जिनभद्र क्षमाश्रमण का क्रमवादसमर्थक साहित्य रहा जो आज भी उपलब्ध है। तथा उन्होंने सिद्धसेन दिवाकर के सन्मतितर्क पर तो अति-विस्तृत टीका ही लिखी है कि जिसमें दिवाकर ने अभेदवाद का स्वयं मार्मिक स्पष्टीकरण किया है। इस तरह अभयदेव के वादों के पुरस्कर्तासंबंधी नाम वाले कथन में जो क्रमवाद के पुरस्कर्ता रूप से जिनभद्र का तथा अभेदवाद के पुरस्कर्ता रूप से सिद्धसेन दिवाकर का उल्लेख है वह तो साधार है ही; पर युगपद्वाद के पुरस्कर्ता रूप से मल्लवादि को दरसानेवाला जो अभयदेव का कथन है उसका आधार क्या है?—यह प्रश्न अवश्य होता है। जैन परंपरा में मल्लवादी नाम के कई आचार्य हुए माने जाते हैं पर युगपद् वाद के पुरस्कर्ता रूप से अभयदेव के द्वारा निर्दिष्ट मल्लवादी वही वादिमुख्य संभव हैं जिनका रचा 'द्वादशारनयचक्र' है और जिन्होंने दिवाकर के सन्मतितर्क पर भी टीका लिखी थी[1] जो कि उपलब्ध नहीं है। यद्यपि द्वादशारनयचक्र अखंड रूप से उपलब्ध नहीं है पर वह सिंहगणी क्षमाश्रमण कृत टीका के साथ खंडित प्रतीक रूप में उपलब्ध है। अभी हमने उस सारे सटीक नयचक्र का अवलोकन करके देखा तो उसमें कहीं भी केवलज्ञान और केवलदर्शन के संबंध में प्रचलित उपर्युक्त वादों पर थोड़ी भी चर्चा नहीं मिली। यद्यपि सन्मतितर्क की मल्लवादिकृत टीका उपलब्ध नहीं है पर जब मल्लवादि अभेद समर्थक दिवाकर के ग्रन्थ पर टीका लिखें तब यह कैसे माना जा सकता है कि उन्होंने दिवाकर के ग्रन्थ की व्याख्या लिखते समय उसी में उनके विरुद्ध अपना युगपत् पक्ष किसी तरह स्थापित किया हो। इस तरह जब हम सोचते हैं तब यह नहीं कह सकते हैं कि अभयदेव के युगपद् वाद के पुरस्कर्ता रूप से मल्लवादि के उल्लेख का आधार नयचक्र या उनकी सन्मतिटीका में से रहा होगा। अगर अभयदेव का उक्त उल्लेखांश अभ्रान्त एवं साधार है तो अधिक से अधिक हम यही कल्पना कर सकते हैं कि मल्लवादि का कोई अन्य युगपत् पक्ष समर्थक छोटा बड़ा ग्रन्थ अभयदेव के सामने रहा होगा अथवा ऐसे मन्तव्य वाला कोई उल्लेख उन्हें मिला होगा। अस्तु। जो कुछ हो पर इस समय हमारे सामने इतनी वस्तु निश्चित

---

१ 'उक्तं च वादिमुख्येन श्रीमल्लवादिना सन्मतौ'—अनेकान्तजयपताका टीका, पृ० ११६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि अन्य वादों का खण्डन करके क्रमवाद का समर्थन करने वाला तथा अन्य वादों का खण्डन करके अभेदवाद का समर्थन करने वाला स्वतंत्र साहित्य मौजूद है जो अनुक्रम से जिनभद्रगणि तथा सिद्धसेन दिवाकर का रचा हुआ है। अन्य वादों का खण्डन करके एकमात्र युगपद् वाद का अंत में स्थापन करने वाला कोई स्वतंत्र ग्रन्थ अगर है तो वह श्वेताम्बरीय परंपरा में नहीं पर दिगम्बरीय परंपरा में है।

(१०) ग्रन्थकार का तात्पर्य तथा उनकी स्वोपज्ञ विचारणा

उपाध्यायजी के द्वारा निर्दिष्ट विप्रतिपत्तियों के पुरस्कर्ता के बारे में जो कुछ कहना था उसे समाप्त करने के बाद अन्त में दो बातें कहना है।

(१) उक्त तीन वादों के रहस्य को बतलाने के लिए उपाध्यायजी ने जिनभद्रगणि के किसी ग्रंथ को लेकर ज्ञानबिन्दु में उसकी व्याख्या क्यों नहीं की और दिवाकर के सन्मतितर्कगत उक्त वाद वाले भाग को लेकर उसकी व्याख्या क्यों की ? हमें इस पसंदगी का कारण यह जान पड़ता है कि उपाध्यायजी को तीनों वादों के रहस्य को अपनी दृष्टि से प्रकट करना अभिमत था फिर भी उनकी तार्किक बुद्धि का अधिक झुकाव अवश्य अभेदवाद की ओर रहा है। ज्ञानबिन्दु में पहले भी जहाँ मति-श्रुत और अवधि-मनःपर्याय के अभेद का प्रश्न आया वहाँ उन्होंने बड़ी खूबी से दिवाकर के अभेदमत का समर्थन किया है। यह सूचित करता है कि उपाध्यायजी का मुख्य निजी तात्पर्य अभेद पक्ष का ही है। यहाँ यह भी ध्यान में रहे कि सन्मति के ज्ञानकाण्ड की गाथाओं की व्याख्या करते समय उपाध्यायजी ने कई जगह पूर्व व्याख्याकार अभयदेव के विवरण की समालोचना की है और उसमें त्रुटियाँ बतलाकर उस जगह खुद नए ढंग से व्याख्यान भी किया है[1]।

(२) [१७४] दूसरी बात उपाध्यायजी की विशिष्ट सूझ से संबंध रखती है, वह यह कि ज्ञानबिन्दु के अन्त में उपाध्यायजी ने प्रस्तुत तीनों वादों का नयभेद की अपेक्षा से समन्वय किया है जैसा कि उनके पहले किसी को सूझा हुआ जान नहीं पड़ता। इस जगह इस समन्वय को बतलाने वाले पद्यों का तथा इसके बाद दिये गए ज्ञानमहत्त्वसूचक पद्य का सार देने का लोभ हम संवरण कर नहीं सकते। सबसे अन्त में उपाध्यायजी ने अपनी प्रशस्ति दी है जिसमें खुद अपना तथा अपनी गुरु परंपरा का वही परिचय है जो उनकी अन्य कृतियों की प्रशस्तियों में भी पाया जाता है। सूचित पद्यों का सार इस प्रकार है—

---

१ देखो, ज्ञानबिन्दु की कंडिकाएँ §§ १०४,१०५,१०६,११०,१४८,१६५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१—जो लोग गतानुगतिक बुद्धिवाले होने के कारण प्राचीन शास्त्रों का अक्षरशः अर्थ करते हैं और नया तर्कसंगत भी अर्थ करने में या उसका स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं उनको लक्ष्य में रखकर उपाध्यायजी कहते हैं कि—शास्त्र के पुराने वाक्यों में से युक्तिसंगत नया अर्थ निकालने में वे ही लोग डर सकते हैं जो तर्कशास्त्र से अनभिज्ञ हैं। तर्कशास्त्र के जानकार तो अपनी प्रज्ञा से नए-नए अर्थ प्रकाशित करने में कभी नहीं हिचकिचाते। इस बात का उदाहरण सन्मति का दूसरा काण्ड ही है। जिसमें केवलज्ञान और केवलदर्शन के विषय में क्रम, यौगपद्य तथा अभेद पक्ष का खण्डन-मण्डन करनेवाली चर्चा है। जिस चर्चा में पुराने एक ही सूत्रवाक्यों में से हर एक पक्षकार ने अपने अपने अभिप्रेत पक्ष को सिद्ध करने के लिए तर्क द्वारा जुदे-जुदे अर्थ फलित किये हैं।

२—मल्लवादी जो एक ही समय में ज्ञान-दर्शन दो उपयोग मानते हैं उन्होंने भेदस्पर्शी व्यवहार नय का आश्रय लिया है। अर्थात् मल्लवादी का यौगपद्य वाद व्यवहार नय के अभिप्राय से समझना चाहिए। पूज्य श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण जो क्रम वाद के समर्थक हैं वे कारण और फल की सीमा में शुद्ध ऋजुसूत्र नय का प्रतिपादन करते हैं। अर्थात् वे कारण और फलरूप से ज्ञान-दर्शन का भेद तो व्यवहारनयसिद्ध मानते ही हैं पर उस भेद से आगे बढ़ कर वे ऋजुसूत्र नय की दृष्टि से मात्र एकसमयावच्छिन्न वस्तु का अस्तित्व मान कर ज्ञान और दर्शन को भिन्न-भिन्न समयभावी कार्यकारणरूप से क्रमवर्ती प्रतिपादित करते हैं। सिद्धसेन सूरि जो अभेद पक्ष के समर्थक हैं उन्होंने संग्रह नय का आश्रय किया है जो कि कार्य-कारण या अन्य विषयक भेदों के उच्छेद में ही प्रवण है। इसलिए ये तीनों सूरिपक्ष नयभेद की अपेक्षा से परस्पर विरुद्ध नहीं हैं।

३—केवल पर्याय उत्पन्न होकर कभी विच्छिन्न नहीं होता। अतएव उस सादि अनंत पर्याय के साथ उसकी उपादानभूत चैतन्यशक्ति का अभेद मानकर ही चैतन्य को शास्त्र में सादि-अनंत कहा है। और उसे जो क्रमवर्ती या सादिसान्त कहा है, सो केवल पर्याय के भिन्न-भिन्न समयावच्छिन्न अंशों के साथ चैतन्य की अभेद विवक्षा से। जब केवलपर्याय एक मान लिया तब तद्गत सूक्ष्म भेद विवक्षित नहीं हैं। और जब कालकृत सूक्ष्म अंश विवक्षित हैं तब उस केवलपर्याय की अखण्डता गौण है।

४—भिन्न भिन्न क्षणभावी अज्ञान के नाश और ज्ञानों की उत्पत्ति के भेद के आधार पर प्रचलित ऐसे भिन्न-भिन्न नयाश्रित अनेक पक्ष शास्त्र में जैसे सुने जाते हैं वैसे ही अगर तीनों आचार्यों के पक्षों में नयाश्रित मतभेद हो तो क्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आश्चर्य है। एक ही विषय में जुदे-जुदे विचारों को समान रूप से प्रधानता जो दूर की वस्तु है वह कहाँ दृष्टिगोचर होती है ?

इस जगह उपाध्यायजी ने शास्त्रप्रसिद्ध उन नयाश्रित पक्षभेदों की सूचना की है जो अज्ञाननाश और ज्ञानोत्पत्ति का समय जुदा-जुदा मानकर तथा एक मानकर प्रचलित हैं। एक पक्ष तो यही कहता है कि आवरण का नाश और ज्ञान की उत्पत्ति ये दोनों, हैं तो जुदा पर उत्पन्न होते हैं एक ही समय में। जब कि दूसरा पक्ष कहता है कि दोनों की उत्पत्ति समयभेद से होती है। प्रथम अज्ञान-नाश और पीछे ज्ञानोत्पत्ति। तीसरा पक्ष कहता है कि अज्ञान का नाश और ज्ञान की उत्पत्ति ये कोई जुदे-जुदे भाव नहीं हैं एक ही वस्तु के बोधक अभावप्रधान और भावप्रधान दो भिन्न शब्द मात्र हैं।

५—जिस जैन शास्त्र ने अनेकान्त के बल से सत्त्व और असत्त्व जैसे परस्पर विरुद्ध धर्मों का समन्वय किया है और जिसने विशेष्य को कभी विशेषण और विशेषण को कभी विशेष्य मानने का कामचार स्वीकार किया है, वह जैन शास्त्र ज्ञान के बारे में प्रचलित तीनों पक्षों की गौण प्रधान-भाव से व्यवस्था करे तो वह संगत ही है।

६—स्वसमय में भी जो अनेकान्त ज्ञान है वह प्रमाण और नय उभय द्वारा सिद्ध है। अनेकान्त में उस-उस नय का अपने-अपने विषय में आग्रह अवश्य रहता है पर दूसरे नय के विषय में तटस्थता भी रहती ही है। यही अनेकान्त की खूबी है। ऐसा अनेकान्त कभी सुगुरुओं की परंपरा को मिथ्या नहीं ठहराता। विशाल बुद्धि वाले विद्वान् सद्दर्शन उसी को कहते हैं जिसमें सामञ्जस्य को स्थान हो।

७—खल पुरुष हतबुद्धि होने के कारण नयों का रहस्य तो कुछ भी नहीं जानते परंतु उल्टा वे विद्वानों के विभिन्न पक्षों में विरोध बतलाते हैं। ये खल सचमुच चन्द्र और सूर्य तथा प्रकृति और विकृति का व्यत्यय करने वाले हैं। अर्थात् वे रात को दिन तथा दिन को रात एवं कारण को कार्य तथा कार्य को कारण कहने में भी नहीं हिचकिचाते। दुःख की बात है कि वे खल भी गुण की खोज नहीं सकते।

८—प्रस्तुत ज्ञानबिन्दु ग्रन्थ के असाधारण स्वाद के सामने कल्पवृक्ष का फलस्वाद क्या चीज़ है तथा इस ज्ञानबिन्दु के आस्वाद के सामने द्राक्षास्वाद, अमृतवर्षा, और स्त्रीसंपत्ति आदि के आनंद की रमणीयता भी क्या चीज है ?

ई० १९४०] [ज्ञानबिन्दु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org